काल चक्र

काल चक्र

राजेन्द्र सिंह

सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
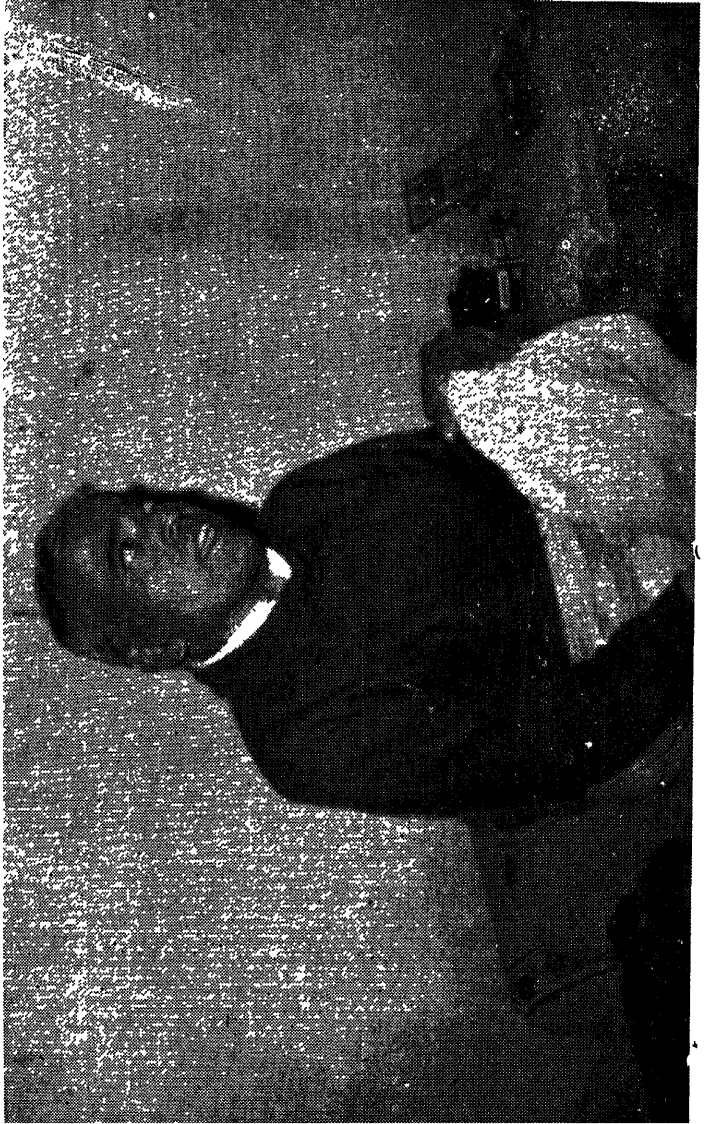
जनम मरन दुख सुख सब भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं।
बरबस राात दिवस की नाईं॥

परम पूजनीय स्वर्गीय बाबूजी
की
चिर-स्मृति में

प्राक्कथन

यश:पूत, कर्मठ, हिन्दी सेवा के भीष्म मनीषी राममूर्ति सिंह अब हमारे बीच नहीं रहे। यह सत्य स्वयं शोकाभिभूत कर देने वाला है। यद्यपि व्यवहार जगत् में यश व धर्म से सम्पन्न पुरुष का जीवन चिरायु है— उसे काल का विकराल गला खा नहीं सकता। इसी बात का उद्घोष हमारे मनीषी निम्न रूप से करते हैं—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा:।
यस्ति येषां यश: को जरा मरणं भयम्॥

सेवा निवृत्ति और वार्धक्य का एकाकी लीला-विलास उनको कभी तोड़ नहीं पाया था। व्यवहार एवं आचरण में वे उस स्थिति तक पहुंच चुके थे जिसे हमारे शास्त्रकारों ने तपस्यारत ऋषि-जीवन बताया है। यही वह चिंतन की अवस्था है जहां व्यक्ति के हृदय में सबको खुशी और निरापद देखने का भाव-बोध सदा होता रहता है पर किसी के बारे में कोई विकार या दुर्भावना की स्थिति नहीं होती। स्वर्गीय राममूर्ति सिंह भाव जगत् के इसी स्तर पर उन्मुक्त विचरण करने वाले—साहित्य मनीषी थे। जब बच्चों के मध्य होते तो ठीक बच्चों जैसा अकिंचन मनोहारी आचरण तथा वयस्कों के साथ पूर्ण रूपेण चैतन्य।

वार्षिकी के पुनीत अवसर पर स्मारिका प्रकाशित करने का प्रयत्न बड़ा ही श्लाघ्य और स्तुत्य है। कथानक स्वतंत्रता पूर्व के ग्रामीण परिवेश से प्रारम्भ होता है। इसका नायक, स्वातंत्र्योत्तर हुई प्रगति का प्रतीक है। उसका बेदाग चरित्र इस प्रश्न का उत्तर है कि परिश्रम और निष्ठा द्वारा स्वतंत्र भारत में क्या कुछ नहीं किया जा सकता ? संस्मरणों में व्यक्ति और वैविध्य इतना है जिसकी बानगी सुधी पाठक काल क्रमानुसार स्वत: पाएंगे। मैं अग्रिम सूचना देकर स्वानुभव का मजा खराब न करूंगा। वैविध्य स्वर्गीय राममूर्ति सिंह की लोकप्रियता के जीवंत साक्षी हैं। व्यष्टि से समष्टि की ओर जाता सामाजिकों की इसी परम्परा का अनुवाद करता है। मानस भवन में आर्यजन भाव-सुमन अर्पित कर इस मनीषी की परम्परा को उजागर रखें। यही सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है।

—जे० पी० सिंह
आई० ए० एस०

प्रस्तावना

इस स्मारिका की प्रेरणा तब हुई जब मुझे उस मेज-कुर्सी पर बैठने का दुर्दिन देखना पड़ा जिस पर बैठकर इसका नायक विगत तीस वर्ष से लिखता चला आ रहा था। उस महापुरुष के प्रति परिवार की और अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का मुझे यही एकमात्र मार्ग सूझ पड़ा। पूर्वी उत्तर प्रदेश के मध्यवर्गीय जमींदार परिवार में जन्मे एक आदर्श पुरुष की सीधी-सादी किन्तु सच्ची कहानी को प्रकाशित करने का प्रयास निजी होते हुए भी निजी नहीं है। इसका नायक एक कर्मठ, सत्यनिष्ठ व्यक्ति है, जिसका एकमात्र साधन रही उसकी कलम। जिसने गांधीवाद को अपने आचरण में आत्मसात् कर लिया था। एक माली जिसने राष्ट्रभाषा की प्रथम पौध भारतीय रेल में लगाई और आजीवन उसकी अधिकाधिक सेवा करता रहा। एक ऐसा चरित्रवान जिसने पूरे तीन दशक तक अपने बच्चों को मां और बाप दोनों का प्यार दिया। परिश्रम धैर्य और सत्यनिष्ठ जीवन के प्रति पाठक की निष्ठा को यदि तनिक भी संबल एतद्द्वारा मिल सका तो इस प्रयास को मैं सफल मानूंगा।

इसके प्रकाशन के लिए मुझे कई शुभचिन्तकों ने प्रोत्साहित किया। श्री श्यामसुन्दरजी, श्री राजदेव त्रिपाठी, श्रीरवीन्द्र नाथ चतुर्वेदी एवं श्री केशवदेव चौबे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मेरी पत्नी और बच्चों ने मुझे सतत् प्रोत्साहित किया। मैं उन सभी लोगों का हार्दिक धन्यवाद करता हूं। अपना बहुमूल्य समय देकर जिन लोगों ने संस्मरण भेजा, मैं उनका आभारी हूं। उनके रचनात्मक सहयोग के बिना 'काल चक्र' अधूरा रह जाता। बन्धुवर जे० पी० सिंह ने प्राक्कथन लिखकर मेरे ऊपर दोहरा एहसान किया है। प्रकाशक बंधु ने समय से होड़ लेकर इसका प्रकाशन जितने अल्प समय में किया है यह उनकी कार्य-कुशलता और संकल्प का परिचायक है। मैं उनका कृतज्ञ हूं।

—राजेन्द्र सिंह

प्रेम सदन
नागर कालोनी, रामकटोरा,
वाराणसी-२

अनुक्रम

एक

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजी शासन की जड़ें भारतवर्ष में और भी अधिक गहरी होने लगीं। ठीक वैसे ही जैसे दीये की लौ बुझने से पहले और प्रखर हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्र भी अब इसके शोषण से वंचित नहीं रहे। किसानों से लगान वसूली का काम जमींदारों के हाथ में था। अधिकांश जमींदार ठाकुर थे। कुछ कुर्मी और ब्राह्मण जमींदार भी थे। राज परिवारों और ताल्लुकेदारों के अतिरिक्त छोटी आमदनी के जमींदार भी थे। ग्रामीण क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने में अंग्रेज सरकार को इस वर्ग से परोक्ष रूप में मदद मिलती थी। पूर्वी उत्तर प्रदेश में ज्यादातर जमींदार छोटे तबके के होते हुए भी ठाट-बाट में कुछ कम न थे। इस ठाट-बाट के पीछे खेती की कमाई कम, लगान-वसूली और बेगार-प्रथा का हाथ अधिक था। स्वतंत्रता के बाद जमींदारी उन्मूलन ने इनका अधिकार छीन लिया और इनका ठाट-बाट भी जाता रहा।

आजमगढ़ से फैजाबाद जानेवाली सड़क आज से पचास-साठ वर्ष पहले कच्ची थी। ऊंट-गाड़ी, बैलगाड़ी और इक्के चला करते थे। साइकिलों का युग नहीं आया था। वस्तुतः वह इक्कों का युग था—जनता का सबसे द्रुत-गति से चलने वाला वाहन, जिस पर जैसे-तैसे पांच-छः व्यक्ति बैठ लेते। भाड़ा इक्के की सज-धज और घोड़े की तंदुरुस्ती पर निर्भर करता। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के निजी इक्के होते जिनमें खूब सजे-धजे, हृष्ट-पुष्ट घोड़े जुतते और बंधते मधुर आवाज करते घुंघरू। आजमगढ़ से चौबीस मील पश्चिम इसी सड़क पर अतरौलिया बाजार है। उन दिनों बाजार सड़क से थोड़ा हटकर उत्तर की ओर था। सड़क के दोनों तरफ खानपुर गांव के कच्चे मकान थे। सरकारी निरीक्षण-भवन तब भी था। अब बाजार सड़क तक बढ़ आया है और खानपुर गांव उसी में समा गया है। स्वतंत्रता सेनानी एवं प्रतिष्ठित गांधीवादी ठाकुर राम चरित्र सिंह इसी गांव के थे। उस क्षेत्र को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका कि उन्हें अपना प्रतिनिध चुनकर प्रांतीय असेम्बली तक भी भेजता। इस क्षेत्र का एकमात्र मिडिल स्कूल एवं डाकघर अतरौलिया में था। लगभग सभी दुकानें बनियों की थीं जिसमें कपड़ा, गल्ला, गुड़, मसाला आदि के अतिरिक्त देशी दवायें भी मिल जाती थीं। इनके अतिरिक्त हलवाइयों और पनवाड़ियों की दुकानें थीं। बाजार के पूर्वी छोर पर जुलाहों के घर थे—जो आज भी हैं पर अब वह ताना-बाना कम नजर आता है जो कभी इस बाजार का आकर्षण था। ये लोग गमछा, चादर और सफेद मोटा कपड़ा बुनते और पीठ पर लादकर आस-पास के गांवों और मेलों में बिक्री के लिए ले जाते। जूते

और चूड़ी का व्यापार भी यही लोग करते। बाजार से उत्तर की ओर थाना आज भी वही है। जुलहटिया से तनिक पूर्व की ओर एक पोखर है। पोखर के इर्द-गिर्द ऊंचे-ऊंचे टिब्बे इस बात के द्योतक हैं कि पुरानी बस्ती इसी के आस-पास थी। सड़क वन जाने पर और समय के साथ-साथ अतरौलिया पश्चिम की ओर बढ़ता गया। पोखर के उत्तर और पूर्व दूर तक आम का बड़ा बाग था। बाग अब भी है किन्तु पहले से आकार में बहुत छोटा। पटेल स्मारक स्कूल इसी बाग के पूर्वी छोर पर है। कभी लंगूरों और बंदरों का इस बाग में बाहुल्य था। इसीलिए इसका नाम बनरहिया बाग पड़ा। अकेले आने-जाने वालों को बन्दरों का भय बना रहता। स्कूली बच्चों को बन्दरों को छेड़ने में विशेष आनन्द मिलता और मौका पाकर बन्दर भी उनसे गुड़-दाना छीन लेते अथवा पुस्तक फाड़ डालते।

अतरौलिया से तीन मील उत्तर-पूर्व की ओर बोधीपट्टी नामक गांव है। बोधीपट्टी के लिए पगडंडी इसी बनरहिया बाग से होते हुए एक मील उत्तर जाकर फिर पूर्व की ओर मुड़ जाती है। बोधीपट्टी से आधा मील पश्चिम तालाब है जिसे बरसात के सिवाय अन्य मौसम में पैदल पार किया जा सकता है। गांव और तालाब के बीच ढाक का बड़ा वन था जो अब नहीं है। इसी वन से होती हुई गांव तक मवेशियों के आने-जाने के लिए खोर थी। तालाब में पानी अधिक हो जाने पर बरसात में यह रास्ता बंद हो जाता और तब लोग अतरौलिया से बोधीपट्टी डगरा पकड़कर आते-जाते। डगरा बैल-गाड़ियों के लिए चौड़ा मार्ग था। यही डगरा अब पिच रोड बन गया है जो अतरैठ और अतरौलिया के बीच है। अब इस पर राजकीय परिवहन की बस चलती है। पैदल जाने वालों को छोड़कर जिनकी संख्या दिनोंदिन कम होती जा रही है, अब लोग प्रायः इसी रोड द्वारा अतरौलिया आते जाते हैं। रोड और बोधीपट्टी को मिलाने वाला चक-रोड अभी कच्चा है।

गांव और वन के बीच खोर के दोनों किनारों पर ऊंची-ऊंची मेंड़ थी जिसपर सरपत की घनी पौध थी। इसी खोर से होकर मवेशी जंगल और तालाब में चरने जाते। चक-रोड के रूप में खोर का अवशेष अब भी है यद्यपि उसका पुराना-रूप नहीं है। जमींदारी उन्मूलन से ठीक पहले इस सुरम्य वन को स्वयं इसके मालिकों ने समूल नष्ट कर दिया और जमीन पर खेती करने लगे। मवेशियों का झुण्ड जो प्रातः गांव से निकलकर वन में जाता और गोधूलि के समय वापस गांव आता अब नहीं दिखलाई पड़ता। वनों को काटने का यह दौर पास-पड़ोस के गांवों में हुआ। पर्यावरण पर जमींदारी-उन्मूलन का कुप्रभाव शायद ही कानून बनाते समय आंका गया हो। जो भी हो ढाक के इस वन के समाप्त हो जाने से बोधीपट्टी का एक अति सुरम्य स्थल समाप्त हुआ सो हुआ ही, उत्तरोत्तर गांव में घी, दूध और ईंधन की तंगी आ गई।

बोधीपट्टी के उत्तरी और पूर्वी भाग में ठाकुरों के घर हैं। गांव की अधिकांश

जमीन इन्हीं लोगों की है। पश्चिम की ओर अहीरों के घर हैं। इन्हीं के बीच एक-एक घर तेली और कहार के हैं। दक्षिणी भाग में केवट, लुहार और राजभर हैं। इन्हीं के बीच कुछ मकान धुनियों के थे। अधिकांश धुनिये स्वतंत्रता के बाद पूर्वी पाकिस्तान (बांगला-देश) चले गये। अब केवल दो-एक परिवार शेष हैं। मुख्य गांव से थोड़ा अलग उत्तर की ओर चमारों की बस्ती है। बोधीपट्टी की यह रूप-रेखा आज भी बरकरार है। इन बस्तियों को क्रमशः ठकुरहनी, अहिरौटी, केवटहनी, लोहरौटिया, भरौटिया और चमरौटिया नाम दिया गया है। इन सभी के कुएं अलग-अलग थे। चमरौटिया में पक्का कुआं बाद में बना, पहले कच्चा कुआं था। मकान कच्ची मिट्टी और खपरैल के थे। केवटों, राजघरों, धुनियों और चमारों के घरों पर खपरैल नहीं था। इन पर छप्पर होती थी जो दूर से ही उनकी आर्थिक विपन्नता प्रदर्शित करती थी। अब कई पक्के दुमंजिले मकान हैं। ठाकुरों के ही नहीं अन्य जातियों के मकान भी पूर्वापेक्षा अधिक अच्छे हैं। गांव में बिजली प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आ गई थी। कुछ लोगों ने घरों में बिजली लगवा ली है। यह और बात है कि उसकी पूर्ति के ऊपर आश्रित नहीं रहा जा सकता।

आज से पचास-साठ वर्ष पहले बोधीपट्टी में मदरसा हुआ करता था। दर्जा चार तक पढ़ाई होती थी। मदरसे में ठाकुरों, ब्राह्मणों के लड़के पढ़ते थे। अन्य जातियों के लड़के मदरसा बहुत कम जाते। उनके लिए पढ़ना अनावश्यक समझा जाता। लड़कियां पढ़ने नहीं जाती थीं। वैसे भी दर्जा दो तक की शिक्षा उन दिनों पर्याप्त समझी जाती थी। चौथी तक की शिक्षा कम लोग पूरी करते थे और मिडिल (सातवीं) पास करके लोग शिक्षक बनने के अधिकारी हो जाते थे। अब इस गांव में सात या आठ पोस्ट ग्रेजुएट और उतने ही ग्रेजुएट हैं। वैज्ञानिक, इंजीनियर, शिक्षक और एडवोकेट के रूप में इनकी सेवायें देश-विदेश में प्राप्त हैं। हरिजन बच्चे भी शिक्षा के क्षेत्र में आगे आने लगे हैं। स्वातंत्र्योत्तर शिक्षा का जो प्रचार एवं प्रसार हुआ उसकी एक किरण जाने-अनजाने इस गांव को भी ज्योतिर्मय कर गई। बोधीपट्टी से पांच किलोमीटर की परिधि में अब दो इण्टर-कालेज और एक डिग्री कालेज है। जिस मकान में गांव का मदरसा था वह कालांतर में ढह गया और तब यह मदरसा बोधीपट्टी से एक मील उत्तर पकरडीहा में चला गया। उसे पुनः बोधीपट्टी में लाने का प्रयास किया गया। सन् १९४५ ई० में मदरसा बनवाया गया। दोनों गांव के लोगों में फौजदारी की नौबत आ गई। आज भी यह मदरसा प्राथमिक पाठशाला के रूप में पकरडीहा में है। पास-पड़ोस में कुछ नयी पाठशालाएं खुलीं किन्तु बोधीपट्टी में नहीं। पकरडीहा स्थित मदरसा भी विगत पचास वर्षों में कोई प्रगति नहीं कर सका। शिक्षा अधिकारियों की दया-दृष्टि इस पर नहीं पड़ पाई है। सड़क के किनारे

होता तो अब तक मिडिल-स्कूल तो बन ही गया होता।

दो

ठाकुर उदयराज सिंह बोधीपट्टी के प्रतिष्ठित जमींदार थे। पास-पड़ोस के गांवों में उनकी धाक थी। दूर-दूर तक उनकी जमींदारी थी। उन्होंने अपना अधिकांश समय मुकदमेबाजी में लगाया, जो ठाकुरों का पुश्तैनी शौक है। आजमगढ़ की फूलपुर तहसील में पलिवार ठाकुर अधिक हैं। शताब्दियों पहले उनके दादा-परदादा पाली राजस्थान से आये थे। पाली से ही पलिवार बना। ठाकुर उदयराज सिंह के पूर्वज भी उसी समय आये थे। उदयराज सिंह के दो पुत्र थे। सबसे बड़ी संतान लड़की थी जिसकी शादी पखेरवा जिला गोंडा में हुई। गवने में ससुराल गई तो फिर वापस बोधीपट्टी नहीं आई। उन दिनों लड़कियां मायके बहुत कम आया करती थीं। उदयराज सिंह के बड़े लड़के वासुदेव सिंह उर्फ बच्चा सिंह मझोले कद के थे। अपनी शाहखर्ची मेहमान-नवाजी एवं दबंग प्रकृति के लिए प्रसिद्ध थे। शरीर से हृष्ट-पुष्ट होने के कारण उनके इष्ट मित्र उन्हें मोटक भी कहते थे। वैसे भी उन्हें अच्छा भोजन प्रिय था। जब कभी उन्हें मन-पसंद भोजन न मिलता अथवा कोई व्यतिक्रम हो जाता तो वह नाराज हो जाते और अपना भोजन स्वयं घर से बाहर बनाते। यह क्रम कई दिनों तक चलता और मान-मनौती के बाद समाप्त हो जाता। विधुर हो जाने के बाद ऐसा प्राय: होता और मान-मनौती का काम उस लड़के या लड़की के जिम्मे होता जो उन्हें सबसे प्रिय होता। खेती-गृहस्थी में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। उन्हें भ्रमण और संगीत से अधिक लगाव था। प्रयाग का माघ मेला उनका कभी नहीं छूटा। प्रतिवर्ष गांव में श्रीमद्-भागवत् कथा या राधेश्याम रामायण के आयोजन में उनका विशेष योगदान होता। रामचरित मानस, फगुआ और कजरी का उनको बहुत शौक था। वह स्वयं गाते और अच्छे गायकों से उनका निकट का संपर्क था। पंडित ईश्वरदत्त उन दिनों उस क्षेत्र के प्रसिद्ध गायकों में थे और ध्रुपद गाया करते थे। ढोलक पर उनका साथ देते थे पंडित भगवती चौबे। पंडित देव नारायण लोकप्रिय कथावाचक थे। ये सभी लोग मूल रूप से किसान थे। संगीत से उनका प्रेम शौकिया था। रेडियो-ट्रांजिस्टरों का युग तब कल्पनातीत था। लोग स्वयं गा-बजाकर मनोरंजन कर लेते थे और कला की उपासना भी। महीने-दो महीने में बाबू बच्चा सिंह के दरवाजे पर नाच होता अथवा गायक-मंडली जुटती। आस-पास के लोग एकत्र होते और अच्छा-खासा मजमा होता। उन दिनों बिदेसिया गीतों का गायन लोकप्रिय हो रहा था। गाने और नाचने वाले कम उम्र के सुन्दर दीखने वाले लड़के होते। पंडित राम प्रसाद मिश्र की नाच-मंडली दूर-दूर तक

प्रसिद्ध थी। बिदेसिया भोजपुरी में गाया जानेवाला, राष्ट्र-प्रेम से ओतप्रोत गान है। उनमें अंग्रेजों के जुल्मों का वर्णन शृंगार रस के माध्यम से होता और होता आजादी की लडाई का निमंत्रण। बच्चासिंह की यह अभिरुचि उन्हें महंगी पड़ी और पुलिस ने उन्हें विद्रोही करार किया। उनके आने-जाने पर नजर रखती और यदा-कदा पूछ-ताछ के लिए उन्हें अतरौलिया थाने पर बुलाती। वैसे भी अतरौलिया और आस-पास का क्षेत्र स्वतंत्रता सेनानी बाबू कुंवर सिंह का साथ देकर अंग्रेजों की आंखों में चढ़ गया था। इक्यासी वर्ष की आयु में बच्चा सिंह का निधन सन् १९७० ई० में हुआ। उनका बनवाया हुआ दुमंजिला मकान बोधीपट्टी में घुसते ही पहली इमारत के रूप में दिखलाई पड़ता है।

उदयराज सिंह के छोटे लड़के रामसेवक सिंह उर्फ दामोदर सिंह भिन्न प्रकृति के थे। जमींदारी का सारा काम वही संभालते और उदयराज सिंह के बाद कुटुम्ब के कर्ता-धर्ता भी वही बने। दामोदर सिंह कद में लम्बे, छरहरे बदन के थे। उनके व्यक्त्वि में विशेष आकर्षण था। बड़ी बुलंद आवाज थी। घुड़सवारी का उन्हें शौक था और इस क्षेत्र के जाने-माने घुड़सवारों में थे। हमेशा अच्छे से अच्छा घोड़ा रखा। शादी चाहे लड़के की हो या लड़की की द्वारपूजा के लिए लोग उन्हें विशेष रूप से आमंत्रित करते। केसरिया साफा बांधकर जब वह अपने घोड़े पर बैठते तो द्वारपूजा पर आये बाकी घुड़सवार एक विचित्र हीन भाव का अनुभव करते और बोधीपट्टी के लोग गर्व का। जमींदारी-उन्मूलन के बाद उन्होंने घोड़ा रखना बंद कर दिया। फिर भी उनके पास लोग शरारती घोड़ों को फिराने के लिए लाते अथवा गोबिन्दसाहब के मेले में घोड़ा खरीदने के लिए विशेषज्ञ बनाकर ले जाते। अतरौलिया के पश्चिम, आजमगढ़ फैजाबाद सरहद पर स्थित गोबिन्दसाहब पशु-मेला, विशेषकर घोड़ों के मेले के रूप में विख्यात था। मेला अब भी यहां लगता है और पहले से अधिक भीड़-भाड़ होती है किन्तु घोड़ों के व्यापारी बहुत कम आते हैं।

आकर्षक व्यक्तित्व और स्पष्टवादिता के कारण दामोदर सिंह लोगों के झगड़े निबटाने, पंच परमेश्वर के सदस्य बनकर जाते। दामोदर और बच्चासिंह की प्रकृति इतनी भिन्न थी कि उन दोनों में कभी किसी बात को लेकर टकराव नहीं हुआ। दोनों ही एक-दूसरे की इज्जत करते थे। भ्रातृ-प्रेम के जीवंत उदाहरण थे। यद्यपि शायद ही कोई समारोह हो जहां दोनों एक साथ गये हों—घर में शादी-ब्याह की बात और है। दुर्दिन आने पर सर्वप्रथम भाई-भाई अलग होते हैं। ठीक यही बात बच्चा और दामोदर सिंह के साथ हुई। गांव के आधे की हिस्सेदार थीं एक बाल-विधवा जिन्हें छोटे-बड़े, औरत-मर्द, सभी अंगनवा की आई (आजी) कहते थे। अंगनवा की आई का जीवन उदयराजसिंह के घर में बीता। उनकी कोई संतान नहीं थी। उदयराजसिंह के पुत्रों और पौत्रों को वह अपना पुत्र और पौत्र समझती

थी। दस या बारह हल की उनकी खेती थी। सम्पूर्ण उपज उदयराजसिंह के घर आती और लोग मौज-मस्ती से रहते। अंगनवा की आई के निधन के बाद उनके खेत-खलिहान, बन और बाग के साथ-साथ पौनी-प्रजा को भी आठ पट्टीदारों में बांट दिया गया। बच्चा और दामोदर सिंह की रहीसी कम हो गई। जैसे-तैसे काम चलता रहा। उन दिनों खेती और भी कष्टसाध्य थी। खेती का कार्य शत-प्रतिशत मजदूरों का मुखापेक्षी था। सिंचाई का एकमात्र साधन ढेंकुल थी। रहट का प्रचलन भी बाद में हुआ। जमींदारी-उन्मूलन ने स्थिति को और भी पेचीदा बना दिया। जमींदारी से होनेवाली आमदनी गई सो गई ही, रोब-दाब, मान-मर्यादा में भी कमी आई। खेतिहर मजदूर जो कल तक हल चलाने के लिए बाध्य थे अब स्वतंत्र हो गये थे। गांव छोड़कर शहर की ओर भागने लगे, अन्य काम-धंधा पकड़ने। गांवों में खेतिहर मजदूरों की कमी हो गई। कभी अधिक मजदूरी की मांग होती तो कभी काम के घंटों में कटौती की। छोटे-छोटे स्थानीय नेताओं की बन आई। खेती का काम ठीक समय पर न हुआ तो उपज में फर्क पड़ जाता है। मजदूर इस बात को भली-भांति समझते थे और ऐन मौके पर अपनी मांग पेश करते एवं हड़ताल कर बैठते। लोगों को मजबूर होकर उनकी बात माननी पड़ती। बच्चा और दामोदर सिंह जैसे मध्यवर्गीय जमींदारों के लिए कोई विकल्प भी नहीं था। उनकी पूंजी इतनी नहीं थी कि और कोई कारोबार की सोचते। वैसे भी किसान का प्रथम प्यार उसकी धरती से होता है। इस बीच परिवार की सदस्य संख्या भी पहले से बढ़ गई थी। लड़के-लड़कियों की शादी का खर्च भी था। संक्षिप्त में परिवार क्रमशः आर्थिक संकट के निकट होता गया। बच्चा सिंह की मेहमान-नवाजी में फर्क तो नहीं पड़ा किन्तु नाच-गाने समाप्त हो गये। उनका घूमना-फिरना कम हो गया। उधर दामोदर सिंह का घोड़ों का शौक भी जाता रहा। परिवार का संकट घर की स्त्रियों पर सर्वाधिक प्रतिलक्षित होता है। उनका आपसी प्रेम कम हो गया। आये दिन झगड़े-झंझट हुआ करते। दोनों भाइयों का प्रेम भी एक-दूसरे से अधिक अपनी-अपनी संतानों की ओर खिंच गया और उनका चूल्हा-चौका अलग हो गया। सुननेवालों को विश्वास नहीं हुआ। इन दो भाइयों के अलग हो जाने से इस संयुक्त परिवार की सबसे मजबूत कड़ी टूट गई। अंगनवा की आई के निधन के बाद खेत-खलिहान पहले ही सिमट गये थे अब पुनः दो टुकड़ों में बंट गये। जो हाथ आया वह पर्याप्त से बहुत कम था। डेहरी और कोठा अब अनाज से नहीं भरते। पट्टीदारों की बन आई। उनकी स्त्रियां ताना मारतीं और छींटाकसी करतीं। कल तक जो खेत अपने थे वह दूसरों के हो गये। अंगनवा की आई को आम का बहुत शौक था। बड़े बाग के अतिरिक्त उन्होंने चुने हुए देशी और मालदह आम घर के पिछवाड़े लगवा रखे थे। अब एक-एक पेड़ बंट गये थे। बच्चों को कुछ समझ में नहीं आता कि क्यों कल तक जो

हमारा पेड़ था, आज दूसरों का हो गया। इस बात को लेकर उनमें लड़ाई-झगड़ा भी हो जाता। 'जब चने थे तो दांत नहीं थे और जब दांत हुए तो चने नहीं रहे' वाली स्थिति पैदा हो गई।

अंगनवा की आई का मायका बोधीपट्टी से छ:-सात मील पूर्व पिपरी नामक गांव में था। उनके भतीजे बुद्धराज अल्पायु में अनाथ हो गये और अपनी बूआ के घर आकर बोधीपट्टी में रहने लगे थे। पिपरी की खेती अधिया पर उठा दी गई। अधिया खेती अगर कोई देखने वाला न हो तो चौथी से भी कम हो जाती है। जो कुछ मिलता वह बूआ के घर आ जाता। पद में बड़े होने के कारण लोग उन्हें बुद्धू बाबा कहते थे। यद्यपि उनकी उम्र अधिक न थी। बचपन में जिस बच्चे से मां-बाप की छाया हट गई हो परिस्थितियां उसे बुद्धू बना ही देती हैं। कहते हैं एक बार पिपरी से बोधीपट्टी आते समय उन्हें दिशा-भ्रम हो गया। बरसात का मौसम था और अगर ऐसे में दिशा-भ्रम हो गया तो कोई अचरज नहीं था। बुद्धू बाबा बोधीपट्टी न पहुंचकर दूसरे गांव में पहुंच गये जहां किसी ने उन्हें पहचाना और दूसरे दिन बोधीपट्टी पहुंचा गया। लोगों को एक बहाना मिल गया, परिस्थिति के मारे बुद्धू बाबा पागल करार कर दिये गए। जिसके परिवार में कोई न हो और जो पागल करार कर दिया जाए भला उसे अपनी लड़की कौन ब्याहेगा? सम्पत्ति-लोभ बुद्धू बाबा जैसे कितने लोगों का आहुति पहले ले चुका है और आज भी इस वेदी पर कितने जितेन्द्रिय, पुजारियों और वेदव्यासों की आहुति दी जाती है।

बुद्धू बाबा जीवन पर्यन्त अविवाहित रहे। अंगनवा की आई की मृत्यु के बाद उनकी स्थिति और खराब हो गई। खेती-गृहस्थी का काम करते उनसे मालिक की अपेक्षा तो की जाती किंतु सलूक उनसे मजदूर जैसा ही होता। जब बच्चा और दामोदर सिंह अलग होने को आये तो बुद्धू बाबा का भाव बढ़ गया। दोनों को उनकी जरूरत थी और फिर पिपरी का खेत भी तो उन्हीं का था। कई दिन पशोपेश में रहने के बाद उन्होंने बड़ा विवेकपूर्ण निर्णय दामोदर सिंह के साथ रहने का लिया। कारण दामोदर सिंह के इकलौते बेटे छेदी अभी छोटे थे और बुद्धू बाबा यह देख नहीं सकते थे कि जीवन-भर सुख-सुविधा में रहने वाले दामोदर भैया अब खेती-गृहस्थी का कठिन काम स्वयं करते। बुद्धू बाबा ने अपना वचन दामोदर सिंह के मरने के बाद भी निभाया यद्यपि लोगों का व्यवहार उनके प्रति अच्छा नहीं कहा जा सकता।

बच्चा व दामोदर सिंह के आपसी झगड़ों का निपटारा करने जो पंच आते उनमें बहुत कम ही लोग होते जो दोनों भाइयों के सामने कुछ बोल सकते थे। फलस्वरूप कई मुद्दों का फैसला उस समय पंचों द्वारा नहीं हो सका जो बाद में राममूर्तिसिंह को निर्णायक बनाकर किया गया। राममूर्ति सिंह, बच्चासिंह के

तीनों पुत्रों में जेष्ठ थे। दामोदर सिंह को एक पुत्र पांच कन्याओं के बाद पैदा हुआ। चिरंजीवी हो इसलिए बच्चे के नाक-कान बचपन में ही छेद दिए गये इसलिए उसका नाम छेदी पड़ गया।

तीन

राममूर्ति, बाबू बच्चासिंह की प्रथम सन्तान थे। उनसे छोटी एक बहन और दो भाई थे। पुत्र-जन्म पर हर परिवार में खुशी छा जाती है, भले ही वह छठवां या सातवां पुत्र हो। राममूर्ति तो अपने मां-बाप की प्रथम सन्तान थे। खानदान के चिराग। नयी पीढ़ी के अगुवा। बड़ी धूमधाम से छठ और बरही हुई। नाच-गाना हुआ। भाई-बिरादरी खाये। पौत्र देखकर उदयराजसिंह की मनोकामना साकार हुई। अंगनवा की आई का वात्सल्य उमड़ पड़ा। अपनी देख-रेख में बच्चे को कई-कई बार तेल और उबटन कराती अथवा स्वयं करने बैठ जाती। नामकरण के लिए पंडित गंगा चौबे बुलाये गये। गंगा चौबे इस क्षेत्र के विद्वान् और पूज्य ब्राह्मण थे। उन्होंने संस्कृत की शिक्षा काशी में पायी थी। घर में कोई आफत-विपत आये, कोई बच्चा बीमार हो, माता (चेचक) का प्रकोप हो या अन्य दैहिक-दैविक कष्ट आ गया हो, गंगा चौबे आते, मंत्रोच्चारण करते, नीम की टहनी से हवा करते, तो सब दुःख दूर हो जाता, ऐसा विश्वास था। रोग न भी जाये तो कम-से-कम देवी-प्रकोप शांत हो जाता या नजर उतर जाती। नजर उतारने का काम धनई चमार भी करते। वैसे तो लोग उन्हें धनई का धनया कहते पर नजर उतारने के लिए जब बुलाते तो ओझा कहते। हाथ में सूखा सरपत लेकर धनई बच्चे के ऊपर धीरे-धीरे फेरते, कुछ फुसफुसाते और फूंक मारते। अन्त में सरपत की पत्ती को अंगुल से नापते और बतलाते की नजर लगी थी या नहीं। गंगा चौबे को जैसा भी भाव आया हो, उन्होंने बालक का बहुत सार्थक नामकरण किया।

अतरौलिया से मील भर उत्तर की ओर एक छोटा-सा देवी का मंदिर है। जिसे सम्मो माई कहते हैं। गर्भवती स्त्रियां पुत्र-जन्म के लिए सामर्थ्य के अनुसार किसी-न-किसी देवी-देवता को कड़ाही चढ़ाने का अनुष्ठान करतीं। सम्मो माई भी स्त्रियां कड़ाही चढ़ाने जातीं। स्त्रियों का घर से बाहर तभी जाना होता जब वह मायके जातीं या फिर कड़ाही चढ़ाने। इस काम के लिए गांव की कई स्त्रियां गीत गाते सम्मो माई जातीं, सोहारी छनतीं और हलुवा बनता। देवी को भोग लगता। सभी लोग प्रसाद ग्रहण करते। शेष प्रसाद घर आकर लोगों में बांटा जाता। सम्मो माई के 'थान' पास-पड़ोस के गांव की स्त्रियां आतीं और आपस में मिलतीं। ऐसा भी होता कि अलग-अलग गांव में ब्याही बहनें या बूआ-भतीजी संयोग बस या पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ऐसे देव-स्थानों पर मिलतीं और मिलते ही

एक-दूसरे का आलिंगन करके, कुछ देर तक रोतीं। यह रोना खुशी का रोना होता। सुख हो या दुःख ग्रामीण स्त्रियां एकाएक जोर-जोर से रो सकती हैं और क्षण-भर बाद एकदम प्रसन्नमुख हंसती-बोलती मिलती हैं। यह उन्मुक्त रोदन और परिहास शहरी वातावरण में पली स्त्रियां स्टेज पर भले ही करके दिखा दें, घरेलू जिंदगी में नहीं।

परिवार की रीति के अनुसार बच्चों का मुंडन-संस्कार बहिरादेव में होता था। बहिरादेव, बोधीपट्टी से चार मील दूर दक्षिण में है। सुरम्य स्थान है। अब इसका विकास पर्यटक-स्थल के रूप में किया गया है। आजकल राजकीय बस आजमगढ़ से बहिरादेव तक जाती है। बोधीपट्टी के पश्चिम में ढाक का वन तब करीब-करीब बहिरादेव तक फैला था। घर के औरत-मर्द और बच्चों के अतिरिक्त पुरोहित और नाई भी जाता। मुंडन होता, नेग दिया जाता, और कड़ाही चढ़ती। इन सभी कर्मकाण्डों में आगे होती अंगनवा की आई। वैसे भी संयुक्त परिवार में बच्चे पर मां-बाप से अधिक परिवार के बड़े-बूढ़ों का अधिकार होता था। आज स्थिति ठीक इसके विपरीत है।

ग्रामीण परिवेश में बच्चों से प्यार का रूप भी भिन्न होता है। खाने-पिलाने पर अधिक ममता दर्शायी जाती, कपड़े और खिलौनों पर कम। और फिर आज जैसे न तो रेडीमेड कपड़े थे और न ही रबड़ अथवा प्लास्टिक के खिलौने। गुल्ली-(गिल्ली) डंडा बच्चों का सबसे सस्ता और एकमात्र खिलौना था। बच्चों का मनोरंजन कबड्डी तैराकी और कुश्ती से भी होता। कुश्ती और विनोट (लाठी चलाने की कला) सीखना जमींदारों के बच्चों के लिए आवश्यक था। गांव का हर बच्चा और नौजवान इसकी शिक्षा नट अथवा खलीफा से प्राप्त करता। इसके लिए नट महीनों गांव में आकर रहता और शिक्षा देता। भोजन में घी-दूध की भरपूर मात्रा होती। बच्चों के लालन-पालन का काम अंगनवा की आई स्वयं करती। औटाये हुए दूध की मलाई, दही या खुरचन वह अपने हाथों देती।

ऐसे ही वातावरण में बालक राममूर्ति का बचपन भी बीता। शुभ दिन देखकर गांव के मदरसे में पढ़ने भेजा गया। चौथी तक की शिक्षा बोधीपट्टी में हुई। मिडिल स्कूल अतरौलिया में था। बच्चों को अतरौलिया में रहकर पढ़ना पड़ता। गांव की पाठशाला से केवल माताभीख उनके साथ पढ़ने अतरौलिया गए। शेष लोगों की पढ़ाई कक्षा चार तक होकर रुक गई। सप्ताह भर का सिद्धा (राशन) लेकर बच्चे अतरौलिया जाते। स्कूल बंद होने पर अथवा सिद्धा समाप्त होने पर घर आते या घर से कोई पहुंचा जाता। कुछ अध्यापक भी स्कूल में ही रहते। विद्यार्थियों को वे अपना पूरा समय देते और बड़ी निष्ठापूर्वक विद्यादान करते। अध्यापकों का समाज में बहुत सम्मान होता। विद्यार्थी के लिए तो वे आदर्श थे ही। बहुत कुछ गुरुकुल की परिपाटी थी। भोजन गुरुजी स्वयं पकाते किंतु दाल में नमक

डालने से पूर्व और भोजनोपरान्त के सभी काम विद्यार्थी करते। विद्यार्थियों में होड़ लगती कि कौन सर्वप्रथम गुरुजी की जूठी थाली धोने पहुंचता। बात यह थी कि कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को एक बर्तन धोना पड़ता था। थाली आसानी से धुल जाती। तवा, बटलोई और कड़ाही साफ करने में अधिक परिश्रम होता। दौड़ में जो पीछे होता उसके हिस्से बटलोई पड़ती।

छठवीं कक्षा से अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। स्पेशल क्लास कहते थे। ऐन्ट्रैन्स की परीक्षा में भूगोल और इतिहास के उत्तर अंग्रेजी मे ही लिखने होते। मेहनत और लगन से राममूर्ति को मिडिल स्कूल की परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त हुए। अतरौलिया स्कूल की ख्याति जिले में हुई। आगे की शिक्षा आजमगढ़ में ही सम्भव थी। यह निर्णय लेने की बात थी सो परिवार ने होनहार बालक के पक्ष में लिया किन्तु साथ ही एक और निर्णय भी लिया। वह था राममूर्ति के ब्याह का। ब्याह को उस समय व्यक्तिगत मामला नहीं समझा जाता। उसका स्वरूप शत-प्रतिशत पारिवारिक स्तर पर होता। लड़के-लड़की से इस विषय में कुछ कहना अथवा पूछना अनावश्यक था। वरक्षा होने के बाद पूरा परिवार इस अनुष्ठान में समर्पित हो जाता। दौड़-धूप प्रारम्भ हो जाती।

आटे की चक्कियां अभी बड़े-बड़े शहरों तक ही पहुंची थीं। रोजमर्रा के खर्च के लिए अनाज घर की महिलायें स्वयं अथवा मजदूरिनें आकर जांते में पीसतीं। शादी-ब्याह अथवा अन्य अनुष्ठान पड़ने पर बैल-चक्की में अनाज पीसा जाता। दस-पन्द्रह दिन पहले से अनाज पीसना प्रारम्भ हो जाता। केवटों, राजभरों और अहीरों के घर गेहूं या जौ तौल के दे दिया जाता जिसे वे पीसकर पहुंचा देते। कुल्हण और मिट्टी के बर्तन की जरूरत पूरा करना कुम्हार का काम था। कागज की प्लेटें नहीं थीं। पत्तल और दोनों का प्रयोग होता जिसे उपलब्ध कराना बारी का काम होता। बढ़ई जलाऊ लकड़ी फाड़ जाता। इसी प्रकार हरिजन स्त्रियां घर की लिपाई-पुताई करतीं। सभी काम बिना पैसे के होते। वर्ग विशेष उसे अपना कर्त्तव्य समझता और एवज में उसे मिलता नेग। कुछ लोगों को बारात में शरीक होने का सुअवसर भी। मकान मिट्टी के थे और उनकी सफाई मिट्टी और गोबर लीप कर होती। लिपी-पुती भीत पर लड़कियां कोहबर (भीत-चित्र) बनाकर अपनी कलात्मकता का परिचय देतीं। इन भीत-चित्रों में युद्ध अथवा डोली ले जाते कहांरों का दृश्य होता या फिर पशु-पक्षियों का चित्रण। आज भी यह प्रथा है। अब गेरू के अतिरिक्त अन्य रंग भी प्रयोग किए जाते हैं।

बारात में बहुत अधिक लोग जाते थे। तीन-चार सौ तक की बारात जमींदारों में आम बात थी। वस्तुत: शादी का प्रमुख खर्च बारात पर होता। बारातियों का आतिथ्य-सत्कार होता सो होता ही, बारात में आये हाथी, घोड़े और बैलों के चारे की व्यवस्था भी करनी पड़ती। अमुक की शादी में इतने हाथी और घोड़े आये,

चर्चा का विषय होता। बारात का विशेष आकर्षण होता नाच-मण्डली। कौन-सी नाच-मंडली तय की गई है इस बात की जिज्ञासा जन-साधारण को होती और वे खुलेआम अपने राय जाहिर करते। अब भी यह आकर्षण का विषय होता है। अब नर्तकों की जगह नर्तकियों की मांग अधिक है। उन दिनों नर्तकों का बाहुल्य था। ये नर्तक बिदेसिया पद्धति के नृत्य और गान करते या फिर भक्ति-रस का कत्थक नृत्य करते। नाटक-मण्डली और भांड़-मण्डली भी हुआ करतीं। जिसकी जैसी हैसियत होती एक या एक से अधिक नृत्य-मण्डली बारात में ले जाता। इसे नाच डेरा कहते।

शादी में स्त्रियां पुरुषों से भी अधिक व्यस्त होतीं। उन्हें जहां रीति-रिवाज और परिपाटी का निर्वाह करना होता वहां भीतर-ही-भीतर सम्पूर्ण क्रिया-कलाप पर दृष्टि रखनी होती। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को कब और किस दिन क्या कैसे करना है? अलिखित संविधान की भांति याद होता। इस प्रकार परिपाटी एक दादी से दूसरी तक जाती रही बिना किसी विशेष परिवर्तन के। परिपाटियों के इस संविधान में कोई संशोधन नहीं हुआ। प्रथम अंकुश तो वर पर होता। उसे घर से दूर नहीं जाने दिया जाता। शादी से कई दिन पहले मुहूर्त देखकर तेलवाई होती और फिर उबटन और तेल का कार्यक्रम नित्य चलता। गर्मी का मौसम (खेतिहर परिवारों में आज भी अधिकांश शादियां गर्मी के दिनों में होती हैं) होते हुए भी स्नान करने की अनुमति न होती। लड़के को शादी के लिए विदा करने से पूर्व स्त्रियां स्वयं उसे स्नान करातीं। शृंगार होता। पीतवस्त्र धारण कराये जाते, कानों में स्वर्ण-बाला पहनाई जाती (लड़कों के कान छिदवाने की प्रथा पहले थी अब नहीं है)। सुसज्जित पिनस (डोली) में किशोर दूल्हा और सहबाला बैठते। उनके साथ बारी-बारी कोई स्त्री बैठती और थोड़ी दूर चलकर उतर जाती। कहांरों को स्त्रियां नेग देतीं। यह क्रम गांव की सीमा तक चलता। लड़के की विदाई से लेकर दुल्हन के स्वागत तक सभी क्रिया-कलापों में स्त्रियां मंगल-गान करतीं। विभिन्न अवसरों के लिए अलग-अलग गीत होते। गीतों की पुनरावृत्ति नहीं होती। गाली भी गीतबद्ध और सस्वर दी जाती है। लोक-गीतों का साहित्य सचमुच बहुत धनी है। हमारी संस्कृति की धरोहर है। दुल्हन आने पर जहां परिवार की खुशी का ठिकाना नहीं रहता, वहीं मुंहदिखाई के कारण दुल्हन की दुर्गति हो जाती है। यह सिलसिला आज भी है। शहरों में भी है।

चार

शादी के बाद राममूर्ति का नाम श्रीकृष्ण पाठशाला आजमगढ़ में लिखा दिया गया। छात्रावास में रहकर पढ़ने की व्यवस्था थी। यह बात १९३०-३१ की है।

आजमगढ़ शहर में अभी बिजली नहीं पहुंची थी। शाम होते ही पूरा कस्बा उपले के धुएं से ढक जाता। शहर की एकमात्र सड़क जो चौक से होकर गुजरती है उस पर खपरैल के मकान और छोटी-छोटी दूकानें थीं। दुमंजिले पक्के मकान गिने-चुने थे। लालटेन की रोशनी में बच्चे पढ़ते-लिखते। लालटेन भी उन दिनों भारत में निर्मित नहीं होती। गांवों में मिट्टी की बनी ढिबरियां जलतीं और कस्बों में विलायती लैम्प। ढिबरियों में सरसों, तिल अथवा कभी-कभी नीम का तेल जलता और लैम्पों में मिट्टी का। शहरों और गांवों की रहन-सहन का फासला बहुत कम था। अविकसित रूप में यह दूरी जड़ और चेतन दोनों में ही कम होती है। चाय का प्रचलन शहरों में भी कम था। चाय कम्पनियां लोगों को मुफ्त चाय पिलाकर प्रचार करतीं। शुद्ध देशी घी की बनी मिठाई जलपान की अनिवार्य संगिनी थी। जिलेबी और दूध का जोड़ा था। पूड़ी और कचौड़ी भी हलवाई बनाते। किराना की दुकानों पर खाद्य-सामग्री के साथ मिट्टी की हंडियां पत्तल और गोबर के कंडे भी मिलते। मुकदमा आदि के सिलसिले में आये ग्रामीण भोजन स्वयं पकाकर खाते। कुछ एक हिन्दू होटल भी थे जिसमें केवल सवर्ण लोग ही भोजन करने के अधिकारी थे। इनमें मेज-कुर्सी नहीं होती। लोग चौके में पीढ़ा (पटरा) पर बैठकर वैसे ही भोजन करते जैसे अपने घरों में। सादगी का वातावरण था। खाद्यान्न का बाहुल्य। बनावट और मिलावट का युग अभी आजमगढ़ जैसे स्थानों में नहीं आया था और न थीं आज जैसी सजी-सजाई दवाओं की दुकानें। कहना कठिन है कि इन दुकानों में कितनी दवा बिकती है और कितनी बीमारी? तब अधिकांश लोग देसी दवाओं पर निर्भर रहते। इन्हीं का काढ़ा और मलहम उनके हर दुख और दर्द को कम करता। इनमें दवा के साथ-साथ दुआ जो होती। कौन-से गांव में कौन जड़ी मिलती है? चिरैता कहां होता है? सहदेइया घास कहां मिलेगी? अथवा कुचैटा और लसोढ़ा की पत्तियां किस जंगल में मिलती हैं? लोग जानते, बतलाते और सहर्ष देते। आयुर्वेद का आधार कभी व्यावसायिक नहीं हुआ—शायद यही इसकी अवनति का कारण भी बना। वैसे भी लोग दवाओं पर कम, परहेज और विश्राम पर अधिक निर्भर थे। मलेरिया, चेचक, प्लेग और हैजा जैसे संक्रामक रोगों का प्रकोप था। फिर भी जन-जीवन में आत्मीयता अधिक थी। लोगों के पास समय और इच्छा थी एक-दूसरे के लिए कुछ करने की। आधुनिकता आत्मीयता की शत्रु है। आज हम आधुनिक कहाने का संतोष भले ही कर लें किन्तु इसके लिए हमें आत्मीयता की बलि देनी पड़ी है। आधुनिकता का जहां अंत नहीं वहीं आत्मीयता का विकल्प भी नहीं।

स्कूली बच्चों का पहनावा सादा था। मिडिल तक बच्चे धोती बांधते। शहर में आने पर धोती के साथ-साथ पाजामा और निकर पहनते। परिवर्तन की प्रक्रिया न तो इतनी प्रबल थी और न तीव्र। सादगी विद्यार्थी का आभूषण थी। किसी

प्रकार का नशा विद्यार्थी के लिए कल्पनातीत था। सुलेख, भाषा एवं गणित पर विशेष ध्यान दिया जाता। फाउन्टेन पेन आ गया था किन्तु प्रचलित नहीं हुआ था। अधिकांश लोग निब लगे होल्डरों से लिखते थे। निबें भी कई तरह की होतीं और आवश्यकतानुसार बदल दी जातीं फिर वही होल्डर काम आता। स्याही बाजार मे भी मिलती और काले रंग की स्याही घर पर ही बच्चे पकाते। कागज का प्रयोग कम होता। चौथी तक तो कागज पर केवल सुलेख लिखा जाता शेष लिखाई लकड़ी की पटरियों अथवा स्लेट पर होती। अधिकांश समय बच्चों का पटरी की सफाई और सतर खींचने में लग जाता। वार्षिक परीक्षा के लिए बच्चे बाजार से खुला कागज लाते और गुरुजी की देखरेख में काटकर कापियां सिलते। पुस्तकों का नितान्त अभाव था। एक ही पुस्तक साल दर साल अलग-अलग विद्यार्थियों को हस्तान्तरित होती रहती। अभिभावकों को पुस्तक मांगने मे हिचक नहीं होती थी अपितु तनिक गर्व होता कि उनका लड़का अब अमुक कक्षा मे गया है। पाठ्यक्रमों में गुलामी के पोषक तत्त्व अधिक होते, ज्ञानवर्द्धन के कम। पचम जार्ज और महारानी विक्टोरिया नामक पाठ पुस्तकों में सचित्र स्थान पाते। शिक्षा-स्तर आज जैसा सुर्वमुखी नहीं था। तत्कालीन सरकार को कामकाज चलाने के लिए बाबुओं की जरूरत थी और उसी दृष्टि से सम्पूर्ण पाठ्यक्रम निर्धारित होता। भारतीय स्कूलों में अब पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों का स्तर बहुत ऊंचा है। बच्चों का सामान्य ज्ञान पूर्वापेक्षा अधिक है।

रामर्मूति ने ऐन्ट्रेंस प्रथम श्रेणी में पास किया और संस्कृत एवं गणित में डिस्टिंक्शन प्राप्त किया। गुरुजनों को मानो उनके परिश्रम का फल मिल गया हो। उन लोगों ने आगे पढ़ाने की सलाह दी। राजपूत बच्चों के लिए उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी ने अपना दरवाजा खोल रखा था। गरीब बच्चों को विशेष सहायता दी जाती। छात्रावास की उचित व्यवस्था थी। कॉलेज-प्रबंध कुशल अंग्रेज प्रिंसिपल के हाथ में था। इसकी प्रसिद्धि पूरे संयुक्त प्रान्त में फैली थी। दूर-दूर से बच्चे आते और शिक्षा ग्रहण करते। इसमें केवल क्षत्रिय बच्चों को ही प्रवेश मिलता, अब इसका वह स्वरूप नहीं रहा और न रही वह प्रबंध-व्यवस्था। दुर्भाग्य है कि अब इस कॉलेज का नाम धूमिल हो चला है। विगत में अनेक विद्यार्थी इस शिक्षा संस्थान में पढ़कर एक से एक उच्च पदों पर आसीन हुए।

पांच

उदय प्रातप कॉलेज वाराणसी से येन-केन प्रकारेण इण्टरमीडिएट कराने के बाद, उनको आगे पढ़ाने की परिवार की न तो इच्छा थी और न सामर्थ्य। यह बात रामर्मूति से छिपी न थी। परिवार की अभिलाषा उनको पुलिस दरोगा

बनाने की थी। पुलिस विभाग का दरवाजा, उदय प्रताप कॉलेज से निकले विद्यार्थियों के लिए खुला था। कॉलेज का अनुशासित जीवन, शरीरिक शिक्षा पर विशेष बल आदि इसमें सहायक होते थे। पुलिस की नौकरी परिवार के लिए पोषक तो बन सकती थी किन्तु उनकी जिज्ञासा की तोषक कदापि नहीं। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्वतः जाकर प्रवेश लिया। घर से आर्थिक सहायता की आशा न थी। इसकी व्यवस्था उन्हें स्वयं करनी थी जिसे वह छात्र-वृत्ति और ट्यूशन से पूरा करते। अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी जैसे-तैसे बी० ए० की डिग्री ली।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन अध्यापकों में डॉक्टर ईश्वरी प्रसाद इतिहासज्ञ का नाम उल्लेखनीय है। स्वतंत्रता के बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने मिडिल स्कूल के विद्यार्थियों के लिए नागरिक शास्त्र की पाठ्य पुस्तकें कई लेखकों द्वारा अलग-अलग तैयार करवायीं। उनमें डॉ० ईश्वरी प्रसाद द्वारा लिखित पुस्तकें भी थीं। किन्तु चयन-समिति ने इस विषय के लिए राममूर्ति द्वारा लिखी पुस्तकों को स्वीकृति दी तो डॉ० ईश्वरी प्रसाद को आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई।

एम० ए० करने के लिए उन्हें नागपुर विश्वविद्यालय क्यों जाना पड़ा, यह रहस्य कभी नहीं खुला। इलाहाबाद में अध्यापकों की कृपादृष्टि उन पर हमेशा रही। नागपुर जाने से उनका वित्तीय संकट भी कम नहीं होता फिर भी उन्होंने एम० ए० (राजनीति) नागपुर विश्वविद्यालय से किया। सम्भवतः इसके पीछे किसी कोमल मानवीय आकर्षण की कहानी छिपी हो। जो भी हो राममूर्ति का गृहस्थ-जीवन सदा दूसरों के लिए आदर्श रहा। कम उम्र में ही (३८-३९ वर्ष) पत्नी के स्वर्गवास के बाद उन्होंने अपने परिवार के प्रति कभी अरुचि नहीं दिखलायी अपितु अपने बच्चों को अगले तीन दशक तक मां और बाप दोनों का भरपूर प्यार दिया। सदा प्रथम श्रेणी पानेवाले राममूर्ति को एम०ए० में द्वितीय श्रेणी से ही संतोष करना पड़ा।

शिक्षा पूरी करने के बाद जिस प्रश्न का अधिकांश नवयुवकों को सामना करना पड़ता है, वही अब उन्हीं के सामने भी था। सरकारी नौकरियां उन दिनों बहुत कम थीं। ब्रिटिश राज्य द्वितीय महायुद्ध में बुरी तरह फंसा था। सरकार मितव्ययिता की नीति का अनुसरण कर रही थी। रिक्त स्थान भरे नहीं जाते थे। भारत वर्ष के शिक्षित समुदाय में बेरोजगारी का बीज पड़ चुका था। ऐसी स्थिति में बी० टी० कर के शि: क बनने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। अतएव १९४३ में टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, वाराणसी में प्रवेश लिया और बी० टी० की। उनके तत्कालीन सहपाठी श्री केशवदेव चौबे अपने संस्मरण में लिखते हैं 'उनकी प्रसिद्धि कॉलेज के मेधावी तथा विनोदप्रिय विद्यार्थियों में थी। उनमें गम्भीरता की पुट थी जो आजीवन उनके व्यक्तित्व का अंश रहा।'

बी० टी० करने के बाद राममूर्ति अपने इलाहाबाद के सहपाठी राजा कृष्णपाल सिंह के पास लखनऊ गये। राजा कृष्णपाल सिंह प्रतापगढ़ की कुरी सुदौली रियासत के थे। कालांतर में इन्हीं के सहयोग से राममूर्ति को नेशनल हाई स्कूल लखनऊ में अध्यापक का कार्य मिला। बनारसी बाग के निकट क्लाइव रोड पर उनका मकान था। अब शायद इस कोठी का भग्नावशेष भी नहीं है। राजा कृष्णपाल सिंह के अन्य साथी भी उनके यहां आते-जाते रहते अथवा बराबर बने रहते। रहने के अलावा भोजन की व्यवस्था भी उन्हीं की ओर से थी। मेहमानों और अतिथियों की आव-भगत तब आम प्रथा थी। लोग इसे सौभाग्य समझते। आज जैसी अभाव की स्थिति न थी। भोजन आदि पर बहुत कम व्यय होता। चीजें सस्ती और सुलभ थीं। और फिर कृष्ण पाल सिंह ठहरे राजपरिवार के। काफी बड़ी कोठी थी। नौकर-चाकर सभी थे। यहीं रहकर राममूर्ति का परिचय लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अनिरुद्ध नारायण सिंह से हुआ। डॉक्टर सिंह माने-जाने गणितज्ञ थे और बाद में विज्ञान संकाय के डीन भी बने। वे मोतीलाल नेहरू मेमोरियल नैशनल स्कूल लखनऊ, की व्यवस्थापक मण्डली के सदस्य भी थे। स्कूल के तत्कालीन प्रिंसिपल, श्रीनारायण तिवारी थे। स्व० श्रीनारायण तिवारी, स्व० श्रीलालबहादुर शास्त्री एवं स्व० त्रिभुवन नारायणसिंह (डॉ० अनिरुद्ध नारायण सिंह के अनुज) काशी विद्यापीठ वाराणसी के स्नातक थे। नेशनल हाई स्कूल दर-असल कांग्रेस पार्टी की शिक्षण संस्था थी। राष्ट्रीय नेता किसी-न-किसी अवसर पर आते रहते। स्व० चन्द्रभानु गुप्त तो उसे अपना स्कूल मानते और जब तब विद्यार्थियों को मिठाई के लिए पैसा देता। राममूर्ति को सन् १९४४ में इसी स्कूल में शिक्षक का कार्य मिला। उनके साथी शिक्षकों में तुलसी राम जायसवाल लखनऊ के अच्छे घराने के थे। एस० एन० आगा, खुशी राम नागर, राम नारायन सिंह, मालवीयजी और जयनारायण सिंह आदि थे। प्रधानाचार्य श्री श्रीनारायण तिवारी को पढ़ाते शायद ही किसी ने देखा हो। किन्तु वह समय के पाबंद एवं अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। सदैव सफेद खादी का चूड़ीदार पाजामा और अचकन पहनते और सिर पर गांधी टोपी लगाते। कभी-कभी स्काउट रैली में जाते तो खाकी निकर, शर्ट और गले में रुमाल बांधकर जाते। अध्यापक उनके व्यक्तित्व का लोहा मानते। जब कोई विशेष पर्व होता अथवा विश्व मंच पर कोई विशेष घटना घटती तो उसकी चर्चा वह स्वयं प्रार्थना के बाद विद्यार्थियों से करते अथवा संस्कृत के वयोवृद्ध अध्यापक मालवीय जी से कहलाते।

नेशनल हाई स्कूल में रहते हुए ही राममूर्ति के मन में 'महात्मा गांधी और विश्व-शान्ति' पुस्तक का बीजारोपण हुआ। इसी बीच उनका परिचय स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री से भी हुआ। शास्त्रीजी और चन्द्रभानु गुप्त दोनों ही उस समय युक्त प्रांत के प्रधान मंत्री (आजादी से पूर्व बनी 'राज्य सरकारों के मुख्य

मंत्री को प्रधानमंत्री कहा जाता था) पंडित गोविन्द वल्लभ पंत के संसदीय सचिव थे। सन् १९४५ से राममूर्ति शास्त्रीजी के निजी सहायक के रूप में लखनऊ सचिवालय में काम करने लगे। निःसन्देह इस परिचय के पीछे मोतीलाल मेमोरियल नेशनल हाई स्कूल से उनका सान्निध्य और उपरोक्त रचना जो लगभग पूरी हो चुकी थी, काम आयी। इस प्रकाशन पर पंतजी, शास्त्रीजी और कमलापति त्रिपाठी ने अपने शुभ संदेश भेजे।

गांधी दर्शन पर उन्होंने मात्र पुस्तक लिखी हो, ऐसा नहीं था। गांधीवाद में उनकी आस्था और अभिरुचि जीवन पर्यन्त बनी रही। वे सच्चे गांधीवादी थे। गांधीवाद को उन्होंने जीवन का अंग बना लिया था। कमरे की सफाई से लेकर वस्त्रों की सफाई तक स्वयं करते। प्रारम्भ में कई वर्ष तक अवकाश के क्षण चर्खा भी कातते। समयाभाव के कारण बाद में चर्खा कातना बन्द हो गया। उन्होंने सदैव खादी धारण किया, आगन्तुकों की सेवा, उनके दुख से दुःखी होना, यथा-संभव उनकी मदद करना, उनके चरित्र के अंग बन गए थे। उनके हंसमुख स्वभाव ने इन गुणों में चार-चांद लगा दिया, यद्यपि उनका घरेलू जीवन पत्नी की अस्वस्थता के कारण दुखी था। वेतन का अच्छा-खासा भाग उनकी दवा में चला जाता। शेष जो बचता वह परिवार के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त न होता। बड़े धैर्य से जीवन-यापन किया। अब वह कैन्टोनमेंट रोड पर राजा भिनगा की कोठी के एक हिस्से में रहने लगे। यहीं रहकर उन्होंने 'हमारे पड़ोसी राष्ट्र' नामक पुस्तक रचना सन् १९४९ ई० में की। कक्षा पांच, छः और सात के लिए नागरिक शास्त्र भाग १, २ और ३ भी भिनगा हाउस में रहकर लिखे। ये पुस्तकें कई वर्ष तक उत्तर प्रदेश के स्कूलों के पाठ्यक्रम में रहीं और उनसे अच्छा पैसा भी मिला। इस प्रकार गृहस्थी चलती रही। बड़ी लड़की शीला सोलह वर्ष की हो गई थी। गांव में रहती तो कभी की शादी हो जाती। रुग्ण शैया पर पत्नी जब भी जरा स्वस्थ होती, उसकी शादी की चर्चा करती। उधर गांव से पिताजी का पत्र आता जिसमें अनिवार्य रूप से रुपये की मांग होती अथवा दामोदर सिंह के साथ चल रहे मनमुटाव और झगड़े-झंझट की बात। इन पत्रों ने उन्हें सदैव दुखी किया। उनकी तत्कालीन घरेलू स्थिति उनके बड़े लड़के के शब्दों में—

"हम पांच भाई-बहन बोधीपट्टी में बाबा के साथ रहते थे। बाबूजी लखनऊ में थे। मां हमारे साथ थीं। पुष्पा पैदा नहीं हुई थी। बाबूजी जब गांव आते, लखनऊ की रेवड़ियां लाते या फिर दशहरी आम। बच्चे और बूढ़े आ घेरते। स्त्रियां घर के भीतर से ही झांककर एक नजर देख लेतीं। कोई कहती अबकी बाबू बहुत दुबले हो गये हैं या बाल अब पकना शुरू हो गया है, आदि-आदि। इन्हीं में कहीं खड़ी होती हमारी मां। बाबूजी का घर आना हम लोगों को अच्छा लगता। एक और बात थी जिससे उनका घर आना हम लोगों को अच्छा लगता, वह थी

मां की खुशी। बाबूजी वापस लखनऊ चले जाते तो हमें कुछ विशेष अंतर न पड़ता। बाबा का भरपूर प्यार हम लोगों को हमेशा मिला। उनके चले जाने पर कई दिन तक मां हम लोगों से उन्हीं की बातें करतीं। कभी वह हम लोगों को घड़ी बांधे देखना चाहतीं तो कभी चश्मा लगाये देखने का सुख संजोए खो जातीं। दुर्भाग्य से उन्हें यह सब देखना कभी नसीब नहीं हुआ। उन्हें भयंकर पेट-दर्द होता। लोग कहते वायुशूल है। लोगों के कहने पर उन्होंने हुक्का पीना भी शुरू कर दिया था। जब कभी उनका दर्द उठता, दो-तीन दिन तक तड़फती रहतीं। कभी-कभी दर्द के कारण बेहोश हो जातीं। अक-बक करने लगतीं। पंडित आते, ओझा आते। कहना कठिन है कि दर्द स्वतः समाप्त हो जाता अथवा झाड़-फूंक का कोई प्रभाव होता। डॉक्टरी सहायता केवल आजमगढ़ में उपलब्ध थी। आजमगढ़ आना-जाना कठिन काम था। सड़क कच्ची थी। बसें भी नहीं थीं। अतएव उन्हें देशी उपचार पर जब जैसी सलाह मिलती संतोष करना पड़ता। एक अन्य क्लेश जो उनको झेलना पड़ता था वह उनकी और चचेरी सास के लड़ाई-झगड़े का। उन्हें अपनी ही नहीं, देवरानियों के रक्षार्थ इस कलह की कमाण्ड लेनी पड़ती। घर के मर्द खुले तौर पर कभी किसी का पक्ष नहीं लेते और उभय पक्ष को डांट-डपटकर शान्त कर देते। झगड़े का मूल कारण ज्यों-का-त्यों बना रहता और बीच-बीच में चिनगारी भड़क उठती।"

पत्नी का इलाज कराने और गृह-कलह से उनको मुक्ति दिलाने के ख्याल से राममूर्ति ने परिवार को लखनऊ बुला लिया। पत्नी की बीमारी और बोधीपट्टी तथा आस-पास के गांवों में पढ़ाई की सुविधा न होने के कारण बड़ी लड़की शीला की शिक्षा प्राइमरी के बाद समाप्त हो गई। लखनऊ आकर भी उसकी पढ़ाई न हो पाई। दैवयोग से उसकी शादी फैजाबाद के एक शिक्षित परिवार में तय हो गई। लड़का एम० ए० करके लखनऊ विश्वविद्यालय में वकालत पढ़ रहा था। लड़के के पिता लखनऊ रेलवे स्टेशन के माल बाबू थे। लड़कियों की शादी में तिलक तब भी प्रमुख खर्च था पर आज जैसी स्थिति न थी। लड़के वालों की ओर से तिलक की कोई मांग नहीं थी। अपितु उनको आशा थी कि राममूर्ति लड़के को कोई अच्छी नौकरी दिला सकेंगे। यह और बात है कि उन लोगों की आशा कभी पूरी नहीं हुई। उनके अनुज डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने सिफारिश न करने और न सुनने का उल्लेख संभवतः इसी दृष्टान्त को ध्यान में रखकर किया है। शीला की शादी सन् १९५० ई० में बोधीपट्टी से सम्पन्न हुई। लड़की लखनऊ में ही रहेगी इस बात से उनकी पत्नी को विशेष प्रसन्नता हुई। यद्यपि जैसी की परिपाटी थी वह लड़की के घर कभी नहीं गई और न ही उसकी सास कभी उनसे मिलने आई।

बिटिया की शादी से निबट कर राममूर्ति पत्नी के इलाज में जुट गए। कैसर बाग कोतवाली के निकट डॉ० जे० के० दास का क्लीनिक था। शायद अब भी है।

नये डॉक्टरों में उनका अच्छा नाम था। उन्हीं से इलाज कराया गया किन्तु दिन-पर-दिन बीमारी की पकड़ बढ़ती गई। उनका शरीर कमजोर होता गया। डॉक्टरी जांच से पता चला कि उनके गाल ब्लैडर में पथरी है। किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज लखनऊ में उन दिनों डॉक्टर माथुर सुप्रसिद्ध सर्जन थे। उन्होंने ऑपरेशन किया और ऑपरेशन कामयाब रहा। उनका स्वास्थ सुधरने लगा। मुख पर कांति आ गई। शरीर भर गया और परिवार में खुशहाली छा गई। इसी बीच उनके जीवन की एक और अभिलाषा पूरी होने जा रही थी। वह थी गृह-प्रवेश की। बाबू बच्चा सिंह ने पुराने मकान के पूरब तरफ नया मकान बना लिया। आधा कच्चा और आधा पक्का बना। यह दुमंजिला मकान आज भी है। उनकी कल्पना थी कि इस मकान में उनकी तीनों बहुएं और बहुओं की बहुएं अपने बाल-बच्चों के साथ रहेंगी। करीब चार-पांच वर्ष लग गए थे उनको मकान पूरा करने में। दर-असल सास-बहू की लड़ाई के पीछे मकान एक खास मुद्दा था। चचिया सास ताने मारतीं कि पुराना मकान उनके मायके वालों की मदद से बना था और दोनों भाइयों (बच्चा व दामोदर बाबू) के अलग हो जाने के बाद अब बच्चा बाबू के परिवार को उस मकान में रहने का नैतिक अधिकार नहीं है। गृह-प्रवेश बड़े धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। लखनऊ से बड़ी बहू सपरिवार आई। ब्याही लड़कियां भी बुलाई गयीं। नात-रिश्तेदार आए। पूजा-पाठ और हवन के बाद नाच-गाना हुआ। सैंकड़ों ब्राह्मण और प्रजाजन को भोजन कराया गया। लोग देखते और मकान की तारीफ करते न अघाते। बच्चा बाबू विशेष गौरव का अनुभव करते। मकान सचमुच भव्य था और उन्होंने अकेले अपने बलबूते पर बनवाया था। उनका सम्पर्क-क्षेत्र इतना बड़ा था कि मकान में लगी शायद ही कोई लकड़ी उन्हें खरीदनी पड़ी हो। ईंट के भट्ठों में लगी लकड़ियां भी इसी प्रकार मिली थीं। श्रमदान से भट्ठे लगते और चार-आना से आठ-आना रोज पर मजदूर और कारीगरों ने काम किया था।

तत्कालीन घटनाओं की चर्चा राजेन्द्रजी के शब्दों में—

"मां अस्पताल में थीं। मुझे वार्ड नम्बर तो अब याद नहीं है किन्तु उसकी स्थिति मां के बेड की स्थिति-सब कुछ साफ-साफ स्मृति-पलट पर अंकित है। वह अस्पताल का खाना नहीं खाती थीं। सुबह का भोजन बाबूजी स्वयं दे आते। शाम का भोजन मैं स्कूल से लौटकर आता तो लेकर जाता। खाना गर्म करने के लिए बिजली की अंगीठी थी। आलमारी में डबल रोटी होती। मुझे देखते ही वह प्रसन्न हो जातीं। टोस्ट खिलाकर वापस आने देतीं। अपनी बीमारी अवस्था में भी स्नेहपूर्वक बालों में हाथ फेरतीं। अस्पताल से जिस दिन छुट्टी मिली वह बेहद खुश थीं। दो-एक दिन में चलने-फिरने लगीं। कुछ ही दिनों में वह पूर्ण स्वस्थ हो गईं। गृह-प्रवेश के लिए हम लोग जब बस से अतरौलिया पहुंचे तो घर से उन्हें

लेने बैलगाड़ी आई थी। किन्तु उन्होंने पैदल जाने का निर्णय लिया। उनमें ताकत आ गई थी। गांव के निकट पहुंचने पर सदा की भांति इस बार भी उन्होंने लौंग काटीं, मन-ही-मन न जाने क्या मान-मनौती कीं और घर पहुंचीं। यद्यपि डॉक्टरों ने उन्हें अधिक परिश्रम न करने की सलाह दी थी फिर भी आते ही उन्होंने सारा प्रबंध संभाल लिया। गृह-प्रवेश वाले दिन उन्होंने भी सबके साथ गाते-गाते घर की परिक्रमा की। घर में सबसे पहला वाला कमरा अपने लिए चुना। इसे पकड़िया वाला घर कहते हैं। कारण उस स्थान पर पाकड़ का पेड़ था। गांव में प्लेग फैला तो उसी पेड़ के नीचे उनके रहने के लिए झोंपड़ी बनाई गयी थी। उसी झोंपड़ी में मेरा जन्म हुआ था। शायद इसीलिए उस स्थान से उन्हें विशेष लगाव था।

"गृह-प्रवेश के बाद मैं बाबूजी के साथ लखनऊ आ गया। बाकी सब लोग वहीं रह गए। लखनऊ में बाबूजी के अलावा चाचाजी भी थे। चाचाजी भारत होमियो फार्मेसी में कार्य करते थे। नौकर न होने पर सुबह का भोजन वही बनाते और शाम का भोजन कुछ-न-कुछ मैं बनाए रखता। रोटी चाचाजी आकर सेंकते। एक बार भूल से मैंने चावल में नमक डाल दिया। भूल का एहसास नमक डालने के साथ हो गया। सोचा दाल में नमक नहीं डालूंगा। तब तक सुल्तानपुर वाले पंडितजी आ गए। उनसे अपनी भूल और भूल सुधार बतलाया। वे हंसने लगे और चावल का नमक धो डाले। इस प्रकार भोजन बनाने की कला से मेरा परिचय अल्पायु में ही हो गया। बाद में देश-विदेश कहीं भी मुझे अपना भोजन बना लेने में कठिनाई नहीं हुई। मां को तीन-चार महीने के अन्दर ही लखनऊ आना पड़ा। उनके पेट का दर्द अब फिर होने लगा था। इस बार गांव छोड़ते समय उनके मन में वह उमंग न थी जो इससे पहले लखनऊ आते समय हुआ करती थी। उनके मन में संशय उठता कि दुबारा आऊंगी या नहीं। यह सच है कि गृह-प्रवेश के बाद वह दुबारा उस घर में न आ सकीं। लखनऊ आने पर इस बार उनका इलाज एक प्रसिद्ध यूनानी हकीम द्वारा प्रारम्भ हुआ। उन्होंने पेट पर हींग-मालिश बतलाया। खूब सारी हींग आई, कूटी। पूरा घर हींगमय हो गया। हींग का प्रगाढ़ लेप होता पर कोई लाभ नहीं। अब उनका दर्द पहले की अपेक्षा जल्दी-जल्दी और अधिक दुखदायी होता, पेट में कुछ पचता नहीं। खाते ही उल्टी हो जाती। दर्द से छटपटाती मां को मैंने न जाने कितनी बार मारफिया की सुई लगाकर सुलाते देखा है। प्रायः उनका दर्द देर रात को उठता और रात में ही डॉक्टर दास को बुलाया जाता। मारफिया का इंजेक्शन दिया जाता और वह सो जातीं। स्थिति यह हो गई थी कि मुझे भी सुई लगाना बतलाया गया यद्यपि मैंने कभी लगाया नहीं। चीखती-चिल्लाती मां सुई लगाते ही सो जातीं और पांच-छः घंटे घर में शान्ति रहती। अब वह पूर्वापेक्षा अधिक कृशकाय हो गई थीं। दीवाल

का सहारा लेकर चलतीं। मारफिया ही उनके दर्द की एक मात्र दवा रह गई थी। स्कूल से आते तो मां को हम लोग प्रायः मुंह ढककर सोता पाते। कोई शोर नहीं करता कि उनकी नींद उचट जाएगी। उन्हीं दिनों लखनऊ में एक जर्मन डॉक्टर आए थे। उन्होंने जांच की और पहली बार उन्हें कैंसर का रोगी करार किया। रेडियो थिरैपी की सुविधा उस समय लखनऊ में नहीं थी। अतएव उन्हें पटना मेडिकल कॉलेज ले जाने की तैयारी होने लगी। इसी बीच एक दिन वह बिना सुई लगाये सोईं तो कभी उठी ही नहीं। पहले तो किसी ने उन्हें जगाया नहीं। जब पांच-छः घंटे बाद भी नहीं उठीं तो चिन्ता हुई। शाम को बाबूजी जर्मन डॉक्टर को लेकर आए। उन्होंने कृत्रिम रूप से पेशाब निकाला इस आशा से कि सम्भवतः कुछ देर बाद उन्हें होश आ जाए। पर वे होश में नहीं आयीं। सांस चलती रही। आंखें बंद रहीं और दांत जकड़े हुए। रुई में पानी लेकर बूंद-बूंद दिया जाता। दूसरे दिन शाम को पुनः जर्मन डॉक्टर आए। इस बार उन्होंने कृत्रिम रूप से पेशाब निकालना अनावश्यक समझा। डॉक्टर को पहुंचाने बाबूजी भिनगा हाउस के बाहर भी न निकले होंगे की मां की सांस रुक गई। आंखें एक बार को घूमीं और फिर टंग गईं। हम लोग घबड़ाकर रोने लगे। हमारा रोना सुनकर पड़ोसी आ गए। मां चल बसी थीं। सब लोग रो रहे थे। मुझे याद है नरेन्द्र और सुरेन्द्र जोर-जोर से रो रहे थे। केवल पुष्पा जो दो वर्ष से कम उम्र की थी कहीं पड़ी सो रही थी। दस मिनट बाद बाबूजी लौटे तो जैसे वह इस सबके लिए तैयार थे। मां को नीचे सुला दिया गया। रात-भर बाबूजी, चाचा, बड़ी बहनजी और विद्या शव के निकट बैठी रहीं। सुरेन्द्र और नरेद्र को लेकर देर रात गए मैं सो गया। सुबह शव ले जाने वाली गाड़ी आई। इष्ट मित्र आए। शव गाड़ी में रखा गया। बाबूजी ने एक बार मुझसे पूछा, 'तुम चलोगे क्या ?'···फिर स्वयं बोले, 'नहीं, रहने दो।' इस प्रकार मां की अंतिम यात्रा में मैं शामिल नहीं हो पाया—मुझे क्या मालूम था तीस वर्ष बाद मैं बाबूजी की अंतिम यात्रा में भी सम्मिलित नहीं हो पाऊंगा।"

छः

संकट जब पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तो स्वतः कम होने लगता है। कहते हैं—'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' व्यक्ति के अन्दर की शक्ति समग्र रूप से उससे जूझने लगती है। यह कलह निर्णायक होता है। या तो व्यक्ति समाप्त हो जाता है या फिर संकट दूर होने लगता है। पत्नी की मृत्यु का समय राममूर्ति के जीवन में दुखों की पराकाष्ठा का समय था। बचपन से ही कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्हें अपना रास्ता ढूंढ़ना पड़ा था। मानसिक रूप से वह

अभ्यस्त हो गये थे। सम्भवतः इसीलिए संकट की उस घड़ी में वे विजयी हुए। उनके सामने कई प्रश्न एक साथ खड़े हो गये। शास्त्रीजी केन्द्रीय सरकार में रेल मंत्री बनकर चले गए। और उसके साथ ही उनके निजी सहायक का पद उत्तर प्रदेश सचिवालय में स्वतः समाप्त हो गया। शास्त्रीजी की ओर से आश्वासन होते हुए भी नौकरी को लेकर उनका चिंतित होना स्वाभाविक था। बच्चों की परवरिश एवं शिक्षा का प्रश्न कम जटिल नहीं था। परिवार में कोई बड़ी-बूढ़ी महिला नहीं थी जिनकी देखरेख में बच्चों को छोड़ा जाता। बड़ा लड़का नवीं कक्षा में था। अगले वर्ष उसे बोर्ड की परीक्षा में बैठना था। सबसे छोटी लड़की पुष्पा दो वर्ष की रही होगी। उसकी देख-भाल अलग समस्या थी। एक प्रश्न जिसका उत्तर राममूर्ति के मन में साफ था, वह दूसरी शादी का था। कुछ लोगों ने दबी जबान उसका सुझाव भी रखा किन्तु उन्होंने इस विचार को पास नहीं आने दिया। उनके यहां लखनऊ आने-जाने वालों में बनकट जगदीशपुर के पंडित शिव-चरित्र दुबे थे। पत्नी की मृत्यु के बाद दुबेजी को पत्र में उन्होंने लिखा, "जिसके लिए मैंने विगत सात वर्ष से खून-पसीना एक कर दिया, मेरी ही आंखों के सामने ज्वाला में विलीन हो गई। अब तो उनके ही हाड़-मांस से बने बच्चों को पाल-पोस कर संतोष करूंगा।" इस छोटे से पत्र में जहां पत्नी के प्रति उनका वियोग झलकता है वहीं बच्चों के पालन-पोषण की दृढ़ इच्छा। पत्नी और बच्चों से उन्हें बेहद लगाव था। आंसू जो पत्नी की मृत्यु के बाद नहीं निकल पाये वही २४ वर्ष बाद ज्वालामुखी बनकर इस असाधारण व्यक्ति को भाव-विभोर कर गए जिसका उल्लेख उनके छोटे लड़के नरेन्द्रजी ने किया है। विपत्तियों के बीच इस असाधारण व्यक्ति को किसी ने आंसू बहाते नहीं देखा। ज्वालामुखी भी क्या रोज-रोज फटते हैं?

बच्चों को गांव भेजकर पढ़ाने का विकल्प उन्हें कभी मान्य नहीं था अतएव लखनऊ रखकर पढ़ाना-लिखाना तय हुआ। उनकी देखभाल का काम दूसरी लड़की विद्या पर पड़ा। विद्या विगत दो-तीन वर्ष से वस्तुतः यह काम कर रही थी। पुष्पा की ओर विशेष ध्यान देना था। लखनऊ में चार-पांच वर्ष से राममूर्ति के अनुज वीरेन्द्र बहादुर भी साथ रह रहे थे। गांव से उनकी पत्नी लखनऊ बुला ली गई। एक वर्ष पहले वीरेन्द्र बहादुर सिंह की तीसरी शादी हुई थी। बहू को घर चलाने का अनुभव तो नहीं था पर बच्चे अकेलापन न महसूस करें इस ख्याल से उन्हें बुलाया गया था। विद्या से वह उम्र में तीन या चार वर्ष बड़ी रही होगी। इसे संयोग कहा जाए या फिर दैवी प्रकोप कि बाबू बच्चा सिंह और उनके तीनों पुत्रों की पत्नियां अल्पायु में ही चल बसी थीं। बाबू बच्चा सिंह स्वयं जीवन के अंतिम तीस-चालीस वर्ष विधुर रहे। सबसे छोटे लड़के शीतला की प्रथम पत्नी शादी के एक वर्ष के भीतर मायके में बुखार से मर गई। मझले लड़के वीरेन्द्र की

प्रथम और द्वितीय पत्नियां एक-एक बच्चे को जन्म देने के बाद चल बसीं। स्वयं राममूर्ति की अवस्था अड़तीस वर्ष के आस-पास रही होगी जब उनकी पत्नी का निधन हुआ। डॉक्टरों को उनकी मृत्यु के पीछे कैंसर दिखाई पड़ा तो गांव वालों को प्रेतात्मा।

अक्षयवर सिंह के घर से लगा हुआ पूरब की ओर पुरानी बखरी का अवशेष अब भी है। कभी इस खंडहर पर घनी झाड़ियां थीं। दिन में आते-जाते भूत-प्रेत का स्मरण हो जाता और रोंगटे खड़े हो जाते। ठकुरहनी के मध्य स्थित यही वह स्थान है जहां पांच-छः पुश्त पहले सब लोग एक घर में रहते थे और धीरे-धीरे अलग होकर दस-बारह घर बन गये। इसी खंडहर में बरुआ बाबा नामक प्रेतात्मा का वास है, ऐसी किंवदन्ती है। इन्हें लोग बरम (ब्रह्म) देवता भी कहते हैं। पुरानी बखरी में एक गर्भवती ब्राह्मणी की मृत्यु कई पुश्त पहले हो गयी थी। धारणा है कि उसके बच्चे ने धीरे-धीरे बड़ी प्रेतात्मा का रूप ले लिया। चचेरी सास से जब कभी लड़ाई होती, चन्द्रावती (राममूर्ति की पत्नी) कुछ देर के लिए अक्षयवर सिंह के घर चली जाती। अक्षयवर बाबू के लड़के की और राममूर्ति की शादी एक ही परिवार में हुई थी। मायके के पद से वह एक-दूसरे की बहन लगती थीं। बहन से बातचीत करके चन्द्रावती के मन का विषाद कुछ कम हो जाता। ऐसे ही समय कभी आते-जाते बरुआ बाबा ने उनको पकड़ लिया और जान लेकर ही छोड़ा। यह बात उस समय मालूम हुई जब वह वायुशूल के कारण बेहोश हो जातीं और बेहोशी में ही बोलतीं। उसके बाद बरुआ बाबा को किसी देव-स्थान में शांत करा दिया गया। इसके पीछे वैज्ञानिक रहस्य जो भी हो, इस प्रकार की धारणाएं देश व काल की सीमा को पार कर सभी जातियों में विशेष कर ग्रामीणों में पाई जाती हैं। मजे की बात यह है कि जिन स्थानों पर ऐसी प्रेतात्माए वास करती हैं उन व्यक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं करतीं जो उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ हैं। उनका कुप्रभाव केवल उन्हीं लोगों पर होता है जिन्हें पहले से मालूम होता है। सम्भवतः अचेतन में बैठा भय समय-कुसमय अधिक गहरा होकर चेतन को प्रभावित करा देता हो।

बच्चों को भिनगा हाउस लखनऊ में छोड़कर मई, सन् १९५२ ई० में राममूर्ति दिल्ली आ गये। शास्त्रीजी रेलमंत्री थे। उनकी इच्छा थी रेलों में यथा-सम्भव हिन्दी का प्रयोग हो। यह काम उन्होंने राममूर्ति को सौंपा। रेलवे बोर्ड में हिन्दी अनुभाग की स्थापना उसी समय हुई। हिन्दी को लेकर विरोध तो था ही, इस प्रकार के काम की परिपाटी भी नहीं थी। हर काम नये सिरे से करना था। रेलवे बोर्ड के वरिष्ठ अधिकारी तकनीकी रूप से हिन्दी का प्रयोग जितना अनावश्यक समझते थे, मंत्री महोदय उसे उतना ही आवश्यक। अपने अनुभव, परिश्रम और सरल स्वभाव के कारण थोड़े ही समय में राममूर्ति ने रेलवे बोर्ड में स्थान बना

लिया और इसके साथ ही हिन्दी का पौधा भारतीय रेल में लग चुका था। इस पौधे को स्व० शास्त्रीजी ने रोपा तो राममूर्ति और उनके सहयोगियों ने उसको खाद और पानी देकर बड़ा किया। आज यह महान् बट-वृक्ष बन गया है जिसकी शाखायें सभी रेलों में स्वतंत्र रूप से विकसित हो रही हैं। किस मेहनत और धैर्य से हिन्दी का पौधा भारतीय रेल में लगाया गया इसकी झलक श्री राजदेव त्रिपाठी और रवीन्द्रनाथ चतुर्वेदी के संस्मरण में मिलती है। इसी बात को श्री सत्यदेव राव 'सत्य' हुल्लड़जी ने कवित्त बनाकर कहा और गांडीव ने लम्बे सम्पादकीय लेख में (देखें परिशिष्ट)। कहीं कोई अतिशयोक्ति नहीं है, यद्यपि यह कठिन काम तत्कालीन मनोदशा के अनुरूप नहीं था। बच्चे इस बीच लखनऊ में रहे। हर महीने वेतन मिलने पर २०० रु० उनके खर्च का लखनऊ भेज देते। घर चलाने की जिम्मेदारी विद्या और राजेन्द्र पर पड़ी। महीना-दो महीना बाद स्वयं एक-दो दिन के लिए लखनऊ जाते और बच्चों को देखकर दिल्ली वापस आ जाते। यह क्रम लगभग सात-आठ महीना चला। राजेन्द्र की दसवीं की परीक्षा के लिए अंग्रेजी कविताओं का सरल भावार्थ लिखकर भेजा। साइंस और गणित के लिए परीक्षा से तीन महीना पहले ट्यूटर रख दिया। रेलवे बोर्ड के काम से उनको स्वयं फुरसत नहीं थी। बच्चों की पढ़ाई का ध्यान लोहरा के श्री सभाजीत सिंह पर छोड़ दिया। वह प्रांतीय रक्षकदल के डिस्ट्रिक्ट आर्गेनाइजर थे और लखनऊ में उन दिनों नियुक्त थे। राममूर्ति को हमेशा भैया कहते और बड़े भाई का सच्चा स्नेह भी उन्हें बदले में मिलता। सभाजीत सिंह बच्चों के साथ भिनगा हाउस में रहते और यथाशक्ति उनकी देख-रेख करते। विचित्र बात है जो स्नेह, प्यार और विश्वास भाई को भाई से नहीं मिल पाता वही अनायास ही दूसरे व्यक्ति से मिल जाता है। राममूर्ति और सभाजीत को एक-दूसरे से यही भ्रातृत्व मिला। सभाजीत सिंह की मृत्यु कई वर्ष पहले कैंसर से हो गई। उनकी मृत्यु ने राममूर्ति को अत्यधिक आहत किया।

हाई स्कूल के बाद राजेन्द्र का दाखिला बलवंत राजपूत कॉलेज आगरा में करा दिया गया और वहीं हॉस्टल में रहने की व्यवस्था हुई। विद्या, सुरेन्द्र, नरेन्द्र और पुष्पा दिल्ली आ गये। लखनऊ में अब केवल छोटे भाई वीरेन्द्र का परिवार रह गया। लखनऊ की पूरी गृहस्थी वहीं छोड़ दी गयी केवल स्मृतियां साथ रह गईं। स्मृतियां जिन्हें भुलाना न तो राममूर्ति के वश में था और न बच्चों के। पत्नी की आत्मा का आह्वान उनके सहयोगी पंडित धरणीधर शर्मा करते। यह काम रविवार को फुरसत से होता। बच्चे भी साथ होते। आत्मा से प्रश्न पूछे जाते, सही उत्तर लिखा देखकर सभी भौंचक्के रह जाते। परीक्षा के तौर पर किसी घनिष्ठ व्यक्ति का नाम पूछा जाता और सही-सही नाम बतलाने पर विश्वास हो जाता कि आत्मा उनकी पत्नी की ही है। ऐसा तीन-चार बार किया गया। बाद

में आत्मा के अनुरोध पर इसे बन्द कर दिया गया। प्लेन चेट संबंधी कागज बहुत दिन तक विद्या के पास रहे।

दिल्ली में गृहस्थी नये सिरे से बसानी थी। श्री रामनरेश सिंह की सहायता से पहले करोल बाग में मकान तत्पश्चात् ६ ई करोल बाग का सरकारी क्वार्टर मिला। लगभग आठ वर्ष तक उसी मकान में रहे। सुरेन्द्र और नरेन्द्र का दाखिला रामजस नं० दो स्कूल में करा दिया गया। विद्या ने प्राइवेट तौर पर पंजाब विश्वविद्यालय की कई परीक्षायें एक-एक करके पास कीं। उन्होंने प्रभाकर करके शिक्षा समाप्त कर दिया। पढ़ने में उनकी अभिरुचि थी यद्यपि स्थितिवश उन्हें किसी कॉलेज में भरती नहीं कराया जा सका। सुरेन्द्र व नरेन्द्र को दिल्ली का शिक्षा-स्तर कठिन लगा वैसे भी दोनों खेलने में अधिक रुचि लेते। समयाभाव के कारण स्वयं उनकी पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दे सके। उन्हीं दिनों अतरौलिया में पटेल स्मारक स्कूल की स्थापना हुई जिससे वह स्वयं संबंधित थे। दोनों को गांव भेज दिया और उसी स्कूल में नाम लिखा दिया। ऐसा उन्होंने खीझ में आकर किया था और दूसरे साल पुनः बुला लिया। सुरेन्द्र ने उत्तर प्रदेश बोर्ड से हाई स्कूल और इण्टर किया। इण्टर करने उनको फैजाबाद शीला की देखरेख में कर दिया। क्षत्रिय बोर्डिंग हाउस में रहने की व्यवस्था हुई। इसके ठीक सामने शीला का घर है। वह लखनऊ से फैजाबाद आ गई थी। वहीं पर चन्द्रप्रताप सिंह (दामाद) एडवोकेट थे। इस बीच राजेन्द्र एम० एस-सी० करके तेल और प्राकृतिक गैस आयोग देहरादून में नौकरी करने लगे। उनकी नौकरी से राममूर्ति को विशेष आर्थिक सहायता भले न मिली हो मानसिक शान्ति और सन्तोष तो मिला ही। उन्होंने कभी लड़कों से रुपया लेना नहीं चाहा। यह बात और है कि लड़के स्वतः अपनी जिम्मेदारी समझते और हमेशा कुछ-न-कुछ करना चाहते। देहरादून से जब राजेन्द्र ने उनके पास रुपया भेजा तो उन्होंने लिखा कि उनको नहीं, रुपया सुरेन्द्र को फैजाबाद भेजें। नरेन्द्र ने दिल्ली बोर्ड से हायर सेकेन्ड्री किया। सुरेन्द्र व नरेन्द्र दोनों को क्रमशः बी० ए० और इन्टर ए-जी० करने बलवंत राजपूत कॉलेज आगरा में दाखिल कराया। दोनों ने समुचित प्रगति की, विशेषकर खेल-कूद में। बलवंत राजपूत कॉलेज के माहौल को इसके लिए उत्तरदायी कहना गलत न होगा। भविष्य में चलकर सुरेन्द्र ने खेल-कूद को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया और एम० पी० ई० की डिग्री जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर से प्राप्त की। नरेन्द्र ने बी० एस-सी० ए-जी० इंजीनियरिंग कृषि विश्वविद्यालय पंतनगर, नैनीताल और एम० टेक० आई० आई० टी० खड़गपुर से किया। आई० आई० टी० खड़गपुर में दाखिला के लिए उनकी खेल-कूद की प्रतिभा सहायक सिद्ध हुई। तीनों लड़कों को हॉस्टल में रखकर पढ़ाना काफी खर्चीली व्यवस्था थी। फलस्वरूप राममूर्ति घरवालों की विशेष मदद करने की स्थिति में नहीं थे। फिर विद्या की शादी भी

निकट थी। शीला की शादी में जो अनुभव उन्हें हुआ था, उससे यह बात छिपी नहीं रही कि घर से किसी मदद की आशा करना उनकी भूल होगी।

बोधीपट्टी और आस-पास के क्षेत्र में राजकीय नलकूप और बिजली की सुविधा प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उपलब्ध हो गई थी। परती पड़ी जमीन भी सिंचाई की सुविधा हो जाने से खेती योग्य हो गयी। जमींदारी-उन्मूलन के बाद आस-पास के जंगल ऐसे गायब हो गए जैसे गधे के सिर से सींग। देखते-देखते गांव के पश्चिम वाला जंगल ऐसे समाप्त हो गया। मनियारपुर के पश्चिम में मंझरिया का ढाक का बड़ा वन समाप्त हो गया और जमीन का देखते-देखते पट्टा हो गया। बच्चा बाबू चाहते थे कि उन्हें रुपया मिले, कुछ जगह-जमीन खरीदें या फिर घर के निकट आटा-चक्की बैठायें। अपनी योजना लेकर कई बार वह दिल्ली भी आये किन्तु प्रयास में विफल रहे। पिता-पुत्र दोनों ही परिवार के कल्याण की सोचते किन्तु उनके मार्ग पृथक्-पृथक् थे। बच्चा बाबू यदि निकट की सोच रहे थे तो राममूर्ति दूर भविष्य की। बच्चों की शिक्षा उनके लिए सर्वोपरि थी। नरेन्द्रजी ने अपने संस्मरण में इसी खींचतान का जिक्र किया है। जमीन लेने में तो राममूर्ति सहायक नहीं सिद्ध हो सके किन्तु एक पढ़ी-लिखी पीढ़ी को जन्म उन्होंने अवश्य दिया।

सात

दिल्ली और लखनऊ के तत्कालीन जन-जीवन में बहुत अंतर था। आज भी है। लखनऊ के लोग आराम-पसंद जीवन व्यतीत करते। अधिक समय राजनैतिक परिचर्चा या फिर गप्पें लगाने में जाता। दिल्ली में लोगों के पास गप्प लगाने का समय नहीं था। वहां विचित्र व्यावसायिकता का वातावरण रहता है। किसी हद तक वहां मित्रता का आधार भी व्यावसायिक धरातल पर अधिक, मानवीय पक्ष पर कम होता है। लोग अध्यवसायी हैं। मेहनत करने और कुछ बनने की इच्छा बच्चों और बड़ों सभी में रहती है। छोटा-बड़ा सभी काम लोग मेहनत से करते। चाहे वह मोची हो, धोबी, खोमचेवाला, दूध अथवा बिस्कुट डबल रोटी बेचने वाला हो, घर-घर जाकर अपने लिए काम लेता अथवा बिक्री करता। गप्पों की फुरसत केवल वृद्ध लोगों को होती जिन्हें दिल्ली के पार्कों में छोटी-बड़ी टोलियों में बैठे गप्प लड़ाते, राजनीतिक परिचर्चा करते अथवा ताश खेलते देखा जाता। सायंकाल इन्हीं पार्कों में कथावाचक, स्त्री-पुरुषों को घंटा-दो घंटा कथा सुनाते, आरती होती और लोग वापस जाते। बच्चों को स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त टाइपिंग, शार्ट-हैंड, सिखाने या प्रतियोगिताओं के लिए तैयार करने के खातिर कई संस्थाएं स्थान-स्थान पर थीं। कुल मिलाकर समय और साधनों का पूरा-

पूरा उपयोग दिल्ली में लोग उस समय भी करते।

दिल्ली में कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से राममूर्ति वैसे तो बहुत से लोगों के संसर्ग में आये, किन्तु कुछ लोग ऐसे रहे जिनका साथ आद्योपांत रहा। शुरू-शुरू में उनका परस्पर श्री रामनरेश सिंह से हुआ। आप हिंदुस्तान टाइम्स में काम करते थे। मकान ढूंढ़ने से लेकर बाद के अनेक वर्षों तक ठाकुर रामनरेश सिंह घनिष्ठ मित्र की भूमिका निभाते रहे। मेरठ के शर्माजी भी ऐसे ही व्यक्तियों में थे। आप गाजियाबाद में रहते और बच्चे उन्हें गाजियाबाद वाले शर्माजी कहते। पुष्पा को जब उत्तर प्रदेश बोर्ड की इंटर की परीक्षा देनी हुई तो इन्हीं शर्माजी के घर रह-कर गाजियाबाद से दिया। गांधी प्रतिष्ठान दिल्ली से सम्बद्ध ठाकुर राजबहादुर सिंह अवस्था में बड़े होते हुए भी उनके यहां बराबर आते और बिना औपचारिकता के घंटों व्यतीत करते। तीर्थराज सिंह (राममूर्ति के दूसरे दामाद) ने अपने संस्मरण में जिस आगन्तुक की चर्चा की है वे ठाकुर राजबहादुर सिंहजी ही थे। पंडित द्वारिका नाथ तिवारी गृह-मंत्रालय द्वारा चलाई जाने वाली हिंदी कक्षाओं के व्यवस्थापक थे। विद्वान्, और सरल प्रकृति तिवारीजी का राममूर्ति विशेष सम्मान करते थे। आप अठनारू(राममूर्ति की ससुराल) जिला आजमगढ़ के रहने वाले थे। उनके परिवार के सभी धार्मिक अनुष्ठान तिवारीजी स्वयं कराते। सुरेन्द्र, नरेन्द्र और पुष्पा का तिलक और विवाह रहा हो या घर में आयोजित कथा-वार्ता, सभी कुछ तिवारीजी के हाथों सम्पन्न हुआ। पौत्र-पौत्रियों की जन्म-पत्री भी उन्हीं ने बनाई। गृह-मंत्रालय से सेवा निवृत्त होने पर तिवारीजी मारीशस में राजपंडित होकर चले गये। विचित्र संयोग की बात है कि राममूर्ति के निधन के दो दिन बाद ही उनका निधन मारीशस में हो गया।

सुइथा कलां, जौनपुर के रहने वाले श्री राजदेव त्रिपाठी उनके घनिष्ठ मित्रों में थे। आप स्नेही-प्रकृति और साहित्य अभिरुचि वाले व्यक्ति हैं। एक जैसे वाता-वरण से आने के कारण दोनों व्यक्तियों के विचार बहुत कुछ समान थे। बच्चों की शिक्षा उन्हें भी सर्वोपरि थी। सभी बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलवाई। विद्या की शादी त्रिपाठीजी के गांव के निकट एक परिवार में उन्हीं की मध्यस्थता में हुई। इसके बाद दोनों परिवारों में निकट का सम्बन्ध हो गया। इतना निकट का कि उनके समकक्ष व्यक्तियों को, जैसा उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा है, ईर्ष्या हो गई। विद्या की शादी सन् १९५८ में हुई। उस समय तीर्थराजजी लखनऊ विश्व-विद्यालय में एम० कॉम० के छात्र थे। राजेन्द्र भी उन्हीं दिनों लखनऊ विश्व-विद्यालय में थे। शहरी सुख-सुविधा की आदी होने के कारण विद्या को गांव में रहना कष्ट-साध्य लगा। फलस्वरूप शादी के एक साल के अन्दर पिता के साथ रहने लगी। तीर्थराज सिंह भी ट्रेनिंग के सिलसिले में कुछ समय तक दिल्ली रहे। बाद में उनकी नियुक्ति बम्बई श्री राम मिल्स में हो गई। आज भी वह इसी

संस्थान में कार्यरत हैं। मकान की असुविधा के कारण विद्या बच्चों—सुधा, रेनू और ममता के साथ दिल्ली में रहीं। बच्चों की प्राथमिक शिक्षा भी दिल्ली में हुई। सुधा, रेनू, मीनू और अनू का बचपन एक साथ दिल्ली में बीता। सभी उन्हें बाबूजी कहते और सभी को उनका स्नेह प्राप्त था। इनके संस्मरणों में उनका स्नेहपूर्ण और मनोहारी व्यक्तित्व और भी अधिक परिलक्षित होता है। बच्चों के बीच उन्हें अच्छा लगता। लिखते-पढ़ते समय भी उन्हें बच्चों के शोर-गुल से तनिक भी फर्क नहीं पड़ता। उन्हें पढ़ता-लिखता देखकर इन बच्चों में पढ़ने-लिखने की आदत स्वतः हो गई। इन बच्चों पर उनकी गहरी छाप पड़ी है। बम्बई में मकान की व्यवस्था हो जाने पर विद्या सपरिवार बम्बई चली गई। विगत दस वर्ष से वे वहीं रह रही हैं। मलाड स्थित फ्लैट की व्यवस्था करने में विद्या को पिता से विशेष योगदान मिला। यह एक आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति करना अनिवार्य था, जो उन्होंने किया। मलाड के जिस फ्लैट की व्यवस्था करके राममूर्ति ने संतोष की सांस ली थी, किसे मालूम था कि दस वर्ष बाद उनकी अंतिम सांस भी उसी में टूटेगी? वाराणसी, जहां देह-त्याग की इच्छा प्रत्येक हिंदू करता है, से क्या खींचकर उन्हें बम्बई से ले गया? विद्या बिटिया का ममत्व अथवा विधाता की चाल? वही जाने।

विद्या की शादी के चार वर्ष बाद बड़े लड़के राजेन्द्र की शादी बनारस के एक परिवार में हुई। शादी से दो वर्ष पहले वे तेल और प्राकृतिक गैस आयोग छोड़कर परमाणु शक्ति विभाग में चले गये थे और उन दिनों उनकी नियुक्ति बम्बई में थी। इस शादी में बाबू बच्चा सिंह की प्रधान भूमिका रही। पौत्र के विवाह में सम्मिलित होना सदैव गौरव की बात मानी गई है। यह बात बच्चा बाबू के लिए भी लागू होती थी। नयी पीढ़ी की यह पहली शादी थी, ठीक वैसे ही जैसे लगभग चालीस वर्ष पूर्व राममूर्ति का विवाह नयी पीढ़ी का प्रथम विवाह था। किंतु इस चालीस-पचास वर्ष में युग-परिवर्तन हो चुका था। इस बीच काल तेजी से कई चक्र पूरा कर चुका था। शादी के समय राममूर्ति मिडिल स्कूल के छात्र थे तो उनका लड़का तीन वर्ष से राजपत्रित अधिकारी और बहू बी० ए०। जहां उन्हें अपने विवाह के बारे में कुछ कहने-सुनने का हक नहीं था वहीं राजेन्द्र ने होने वाली पत्नी के बारे में अपनी इच्छा उनसे व्यक्त कर दी थी। दस वर्ष बाद जब नरेन्द्र की शादी हुई तो लड़के लड़की का एक-दूसरे को देख लेना उचित समझा गया। राजेन्द्र की शादी ही वह अंतिम सामाजिक कार्यक्रम था जो पूर्ण रूप से बोधीपट्टी में सम्पन्न हुआ। इसके बाद सुरेन्द्र की शादी बोधीपट्टी से सम्पन्न अवश्य हुई किंतु तिलक दिल्ली में आयोजित किया गया। बच्चा बाबू सुरेन्द्र की शादी में सम्मिलित हुए थे किंतु उसके एक महीने के बाद ही उनका निधन हो गया। राजेन्द्र की शादी के बाद करोलबाग वाला मकान छोटा पड़ने लगा। एक वर्ष

बाद सेक्टर तीन, रामकृष्णपुरम में मकान मिला। नया मकान अधिक सुविधा-जनक था, यद्यपि उस समय रामकृष्णपुरम अधूरा था। दिल्ली के शेष भाग से यह अलग-अलग लगता था। यह बात सन् १९६४ ई० की है। केवल ४५-४६ नम्बर रूट की बसें केन्द्रीय सचिवालय व अजमेरी गेट और रामकृष्णपुरम के बीच चलती थीं। बाजार के नाम पर सेक्टर एक से तीन आने वाली सड़क की दोनों पटरियों पर छोटी-छोटी दुकानें झोंपड़ियों में थीं। आज रामकृष्णपुरम अपने आप में एक नगर है और उसके इर्द-गिर्द दिल्ली की अति आधुनिक रिहायसी कालोनी बन चुकी हैं।

बारह वर्ष तक सेक्टर तीन, ३५२ नं० का मकान राममूर्ति और उनके परिवार का मुख्यालय बनकर रहा। इस मकान के साथ उनके परिवार के सुख और समृद्धि का इतिहास जुड़ा हुआ है। परिवार ने सभी क्षेत्र में यथोचित प्रगति की। इसी मकान से सुरेन्द्र का तिलक, नरेन्द्र का तिलक और विवाह, पुष्पा की मंगनी (उनकी शादी लखनऊ से हुई) आदि सम्पन्न हुआ। इसी मकान में मीनू, ममता व प्रीती का जन्म हुआ। वैसे सुधा, रेनू तथा अनू का बचपन भी इसी मकान में बीता। सुरेन्द्र नरेन्द्र भी शिक्षा पूरी करके नौकरी करने लगे थे। सुरेन्द्र प्रथम शांति निकेतन और बाद में कल्याणी विश्वविद्यालय में लेक्चरर नियुक्त हुए। सन् १९७५ के अन्त में वह नाइजीरिया इसी मकान से गये। शीला, विद्या और पुष्पा का मायका भी सेक्टर तीन का यह मकान बन गया था। फ्रिज, टी० वी० एवं परिवार की सर्वप्रथम कार यहीं रहते हुए खरीदी गयी। राममूर्ति और राजेन्द्र को एक साथ कार्यालय कार से आते-जाते देख किसे नहीं ईर्ष्या हुई होगी। 'जब नीके दिन आइहैं बनत न लगिहैं देर' साकार हो चुका था। एक युद्धरत जीवन हर्षोल्लास के चरम उत्कर्ष पर पहुंच चुका था। कष्ट के बादल छंट गये थे। सफल नाविक की भांति राममूर्ति परिवार को मझधार से निकालकर किनारे लगा चुके थे। उदयराज सिंह की चौथी पीढ़ी ने जन्म ले लिया था। एक बार फिर राजेन्द्रजी के शब्दों में—

"मैं बलवंत राजपूत कॉलेज आगरा से इन्टरमीडिएट कर रहा था। मुझे हर महीने बाबूजी का इन्स्योर्ड कवर छः-सात तारीख तक अवश्य मिल जाता। उसमें ठीक उतने ही रुपये होते जितना मैंने मंगवाया होता। न कभी कम और न ज्यादा। कभी-कभी सोचता हूं (उस समय नहीं सोचा) क्यों नहीं बाबूजी अपनी ओर से कभी पांच रुपया अधिक भेज दिये। हम तीनों ही उनकी माली स्थिति को समझते थे और हमेशा कम-से-कम जितने रुपयों की आवश्यकता होती उन्हें लिखते। हम लोग जब भी दिल्ली जाते, बाबूजी स्टेशन पर लेने आये होते और छोड़ने भी आते। घर से चलते समय हमेशा पूछते, "पास (या टिकट) देख लिया?" यह सिलसिला हम लोगों के बड़े हो जाने तक चलता रहा। बड़े हो जाने पर उनका

यह पूछना हम लोगों को मजाक-सा लगता और हम लोग बिना देखे ही कह देते 'जी बाबूजी, देख लिया।' हम लोगों के प्रति उनका व्यवहार समय के साथ-साथ पितृवत् से भ्रातृवत् होता गया। कहते भी थे, जब बेटे का पांव बाप के जूते में आ जाये तो उसे भाई समझना चाहिए। मुझसे शादी-ब्याह के बारे में सलाह लेते। मुझ पर उनका पूर्ण विश्वास था। सुरेन्द्र की शादी का प्रस्ताव जब मेजर जनरल शारदा नन्दसिंह की ओर से आया तो एक ओर तो प्रसन्न थे किन्तु दूसरी ओर सोचते, बड़े परिवार की लड़की हम लोगों के बीच रह सकेगी क्या? मेरा विचार जानना चाहा। मेरी ओर से समर्थन पाकर उनकी प्रसन्नता प्रत्यक्ष हो गई। तिलक दिल्ली में बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुआ। रडियो कलाकारों ने संगीत प्रस्तुत किया। बोधीपट्टी से बाहर होने वाला परिवार का यह प्रथम प्रमुख सामाजिक कार्यक्रम था। सुचारु और सुरुचिपूर्ण ढंग से पूर्ण हो जाने पर उन्हें प्रसन्नता तो हुई ही, लड़कों के आयोजन शक्ति में विश्वास भी। दो वर्ष बाद नरेन्द्र का तिलक और विवाह दोनों दिल्ली में सम्पन्न हुआ। सभी सगे-संबंधी आये। उनके रहने की व्यवस्था पास के मकानों में कर दी गयी। इन सब कार्यक्रमों में हमारे संबंधी महेन्द्रसिंह और सेक्टर तीन बाजार के 'गोपीनाथ स्टोर' के मालिक श्री मोहन प्रकाश ने बहुत सहयोग दिया। मोहनजी से आज भी हम लोगों के संबंध पूर्ववत् हैं। संयोग से जिस दिन बाबूजी का निधन हुआ उसी दिन उनके पिताजी का भी स्वर्गवास हो गया।

"बाबूजी नित्य दो-तीन घंटे लिखते। यह लेखन शब्दावली को लेकर होता। हम लोग देखकर ऊब जाते। कई बार मैंने कहा भी 'बाबूजी आप इसकी आधी मेहनत करके यदि उपन्यास लिखते तो अधिक पैसा मिलता।' उनका उत्तर होता, 'अरे भई, यह मेरा विषय है। इस प्रकार का टेक्निकल काम।' सचमुच शब्दों के बार में उनकी जिज्ञासा अन्त तक बनी रही। वैज्ञानिक शब्दों के विषय में भी सविस्तार से जानना चाहते। कभी-कभी उनकी जिज्ञासा मुझे परेशानी में डाल देती। पढ़कर उन्हें समझाने का प्रयास करता।

"मैंने जब से होश संभाला उन्हें खादी पहनते देखा। उनकी पोशाक सादी होती। रजाई-गद्दा सभी कुछ खादी का होता। रजाई हर वर्ष नयी बनवाते। पुरानी रजाई किसी और को मिल जाती। एक समय ऐसा आया कि घर में सभी रजाई खादी की हो गईं। घड़ी नहीं बांधते थे। उनका कहना था 'जब हिन्दुस्तान में घड़ी बनने लगेगी तब बांधूंगा। स्वतंत्रता के कई वर्ष बाद एच० एम० टी० की घड़ियां आईं यद्यपि प्रारम्भ में दुर्लभ थीं। एक दिन त्रिपाठीजी (श्री राजदेव त्रिपाठी) के पास मैंने एच० एम० टी० की नयी घड़ी देखा। पूछा, 'यह किसके लिए है?' 'मेरे गांव के एक आदमी ने मंगवाया था; उसी के लिए ले आया हूं।' मैंने वह घड़ी त्रिपाठीजी से ११० रुपये में ले ली और

उनके साथ ही घर आकर बाबूजी के हाथ में बांध दिया। उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह बात आज से १५-१६ वर्ष पहले की है। आखीर तक वे वही घड़ी बांधते रहे। एच० एम० टी० की स्वचालित घड़ियां आ जाने पर जब मैंने दूसरी अच्छी घड़ी का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने इंकार कर दिया। मैंने उन्हें कभी कुछ और दिया हो याद नहीं। एक दिन कार्यालय से आते ही बोले, 'अरे भई, हम लोगों की कार तैयार है। कौन-से रंग की लेनी है।' हम लोग अविश्वास की मुद्रा में देखने लगे तो बोले, 'मैं सच कह रहा हूं।' हम लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा जब एक महीने बाद सफेद अम्बैसडर घर आ गई। इससे पहले उन्होंने कभी कार का जिक्र तक नहीं किया था। बात गोपनीय रखना तो कोई उनसे सीखे। मैं ही जाकर कार ले आया। मेरा कार्यालय उन दिनों राजेन्द्र नगर में था। रोज उनको रेल भवन छोड़ता हुआ अपने दफ्तर जाता और शाम को उन्हें लेता हुआ घर आता। मेरे कई मित्र जो प्रायः मेरे साथ आते, उन दिनों की आज भी याद करते हैं। कार आ जाने के बाद तो बाबूजी का आना-जाना बढ़ गया। कोई बीमार हो, अथवा अस्पताल में, शादी हो या होली-मिलन, कथा हो या बच्चे का जन्मदिन बाबूजी जाते और मुझे ले जाना पड़ता। कभी इच्छा से कभी अनिच्छा से। उन्होंने मुझसे कार चलाना भी सीखा। लाइसेंस भी लिया किन्तु उनको अकेले कार ले जाने में उनसे ज्यादा मुझे घबराहट होती।

"उन्होंने अपने आप को घर में भी इतना व्यस्त रखा कि रिटायर होना उन्हें अखरा नहीं। रही गोपनीयता वाली बात सो उनकी कमजोरी-सी हो गई थी। ३१ दिसम्बर, १९७४ का दिन मुझे नहीं भूलता। राजस्थान के दौरे म घर वापस आया तो उन्हें दो दिन से तेज बुखार में पड़ा पाया। हमेशा की तरह उन्होंने दवा की जगह विश्राम पर अधिक भरोसा किया। डॉक्टर विश्वास (फैमिली डॉक्टर) को बुला लाया। जांच के बाद मुझे लेकर क्लीनिक गये। गंभीर होकर बोले, 'इनको तुरंत ले जाना होगा।' मैंने पूछा, 'क्या कोई खास बात?' 'इनके प्रोस्ट्रेट के कारण पेशाब नहीं उतर रहा है। देर करने से मूत्राशय फट जाने का डर है।'

"प्रोस्ट्रेट वाली बात मेरे मित्र डॉक्टर श्रीवास्तव ने एक वर्ष पहले मुझसे कहा था। डॉक्टर श्रीवास्तव इरविन अस्पताल में थे। तुरंत उन्हें फोन किया। उन्होंने सलाह दिया कि बाबूजी को इरविन में भरती कराना ठीक रहेगा। वहां वह स्वयं उनकी देख रेख कर सकेंगे। एक घंटे बाद बाबूजी इरविन में भरती हो गये। कृत्रिम ढंग से उनका पेशाब निकाला गया। आधी रात को श्यामू और मैं घर लौटा। नव वर्ष के स्वागतार्थ कनाट प्लेस में ऐसी भीड़ और चहल-पहल थी जैसे दिन के बारह बजे हों।

"मैं हमेशा बाबूजी के सामने जमीन खरीदने का प्रस्ताव करता—भले ही वह आजमगढ़, लखनऊ या दिल्ली में हो। इसके लिए मैंने कुछ रुपये भी जोड़ रखा था। उन्हें बिहार के एक सज्जन मिल गए जिन्होंने दिल्ली में गलत प्लाट की रजिस्ट्री करा दी। बाबूजी का इन मामलों में कोई अनुभव नहीं था। सौदा गलत निकला और रुपये डूब गये। जब तक वे दिल्ली रहे मुकदमा लड़े किन्तु बनारस चले आने के बाद उन्हें यह प्रयास छोड़ देना पड़ा। वैसे शुरू से ही उनकी इच्छा दिल्ली में बसने की थी।"

भिनगा हाउस लखनऊ से सेक्टर तीन रामकृष्णपुरम तक की उनकी कठिन यात्रा सम्भव हो सकी थी एक सशक्त लेखनी के माध्यम से जिसके साथ नित्य लगभग दस-बारह घंटे वह कड़ा परिश्रम करते। 'नागरिक शास्त्र' भाग १, २, व ३ के द्वितीय संस्करण का काम जनवरी सन् १९५३ ई० में पूरा कर चुके थे। 'हमारे पड़ोसी राष्ट्र' और 'महात्मा गांधी और विश्व-शांति' के द्वितीय संस्करण निकालने की योजना क्रियान्वित नहीं हो पायी किन्तु 'सामान्य अंग्रेजी-हिन्दी शब्द कोश' सन् १९६१ में तैयार हो गया था। उसका प्रकाशन हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई वालों ने किया। प्रकाशक की मंशा थी कि राममूर्ति शब्दावली को रेल कार्यालयों में बिक्री करायें जो उन्हें स्वीकार नहीं था। काफी वाद-विवाद के पश्चात् हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर के साथ हुआ अनुबंध समाप्त कर दिया गया। इस पुस्तक से रायल्टी के रूप में प्राप्त १००६ रु० राष्ट्रीय सुरक्षा निधि में जमा करा दिया। नौ वर्ष बाद, १९७० में 'मानक हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोश' की रचना उन्होंने प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली को प्रकाशनार्थ भेजी। प्रभात प्रकाशन ने इस पुस्तक के प्रकाशन और बिक्री में लगन से काम किया और इसके दो संस्करण प्रकाशित किये। इस पुस्तक के तृतीय नवीन संस्करण के लिए राममूर्ति कार्यरत थे। किन्तु इसके पूर्व कि रचना प्रेस में जाती, विगत सैंतीस वर्ष से अनवरत चल रही लेखनी थक चुकी थी। लेखक तो अमर है केवल उसकी लेखनी बन्द हो गयी। लेखनी जिसने कितनों को सांत्वना, प्रोत्साहन और उत्साह दिया। लेखनी जो सादगी की मूर्ति का एकमात्र शृंगार बनकर रही सहसा श्रीहीन हो गयी। काल का यही अनन्त लीला विस्तार है।

आठ

लगभग बीस वर्ष रेलवे बोर्ड के माध्यम से राष्ट्र-भाषा की सेवा करके सन् १९७१ ई० के अन्त में राममूर्ति ने कब अवकाश ग्रहण कर लिया, यह बात कार्यालय से बाहर के उनके मित्र भी नहीं जान पाये। रामकृष्णपुरम का सरकारी मकान बड़े लड़के के नाम हो गया। व्यवस्था में कहीं कोई फर्क नहीं आया। सब कुछ पूर्ववत् रहा। यह उनके लिए और परिवार के लिए सन्तोष का विषय था।

मार्च १९८२ में सबसे छोटे लड़के नरेन्द्र का विवाह बुलन्दशहर के एक परिवार में हुआ। नरेन्द्र उन दिनों टैफी नामक ट्रैक्टर कम्पनी के एरिया रिप्रेजेन्टेटिव बनकर लखनऊ में नियुक्त थे। लड़की के पिता ठाकुर जगदीश सिंह कृषि मंत्रालय में अण्डर सेक्रेटरी थे और सेक्टर तीन में ही रहते थे। नरेन्द्र की शादी पूर्णतया दिल्ली से सम्पन्न हुई। ठाकुर जगदीश सिंह पहली बार बोधीपट्टी उस समय पहुंचे जब तेरही की शोक-सभा प्रारम्भ होने जा रही थी। वे इतने भाव-विभोर थे कि चुप-चाप आंसू बहाते बैठे रहे। पुष्पांजलि में राममूर्ति के लिए 'महात्मा' शब्द का प्रयोग करके अपने उद्गारों को उन्होंने एक ही शब्द में अभिव्यक्ति दी है।

विद्या पहले ही बम्बई चली गयी थी। सुरेन्द्र पहले शांति निकेतन और बाद में कल्याणी विश्वविद्यालय चले गए। दिल्ली में अब उनके साथ केवल पुष्पा, राजेन्द्र, बड़ी बहू और उनकी दो पुत्रियां रह गयी थीं। विशेष उत्तरदायित्व का काम जो शेष बच गया था वह था पुष्पा की शादी। इसमें दो कठिनाइयां सामने आ रही थीं। दहेज की कुप्रथा अपना सीना तान चुकी थी। अच्छी शादी का मतलब ढेर सारे रुपये। ग्रामीण परिवार में शादी करना नहीं था। जन्म से ही वह शहर में रह आयी थी। दूसरी कठिनाई यह आ रही थी कि बीस-बाईस वर्ष से दिल्ली में रहने के कारण राममूर्ति का अपने क्षेत्र से निकट का सम्पर्क नहीं रह गया था। यद्यपि उनके भाई वीरेन्द्रजी करीब दस-बारह वर्ष से आजमगढ़ में होमियो फार्मेसी खोलकर रहने लगे थे किंतु शादी तय करने में वह कुछ मदद कर सकते हों, ऐसा नहीं था। ठाकुर रामपाल सिंह (छोटी बहू के फूफाजी) ने प्रोफेसर दुर्गासिंह के नाती का रिश्ता बतलाया। राममूर्ति जब उदय प्रताप कॉलेज के छात्र थे, ठाकुर दुर्गासिंहजी रसायन शास्त्र के प्रोफेसर थे। उदय प्रताप कॉलेज से अवकाश ग्रहण करने के बाद, गुलाब बाग बनारस में मकान लेकर बस गए। वैसे आप गढ़ी जिला बिजनौर के रहने वाले थे। उनके सुपुत्र कुंवर उदयवीर सिंह, सारा भाई केमिकल्स बड़ौदा में उच्चाधिकारी हैं। कुंवर उदयवीर सिंह के ज्येष्ठ पुत्र महेश विक्रम सिंह इतिहास से एम० ए० करके बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय में शोधकार्य कर रहे थे। पुष्पा की शादी इन्हीं कुंवर महेश विक्रम सिंह से दिसम्बर, १९७४ ई० में हुई। शादी लखनऊ से हुई और बारात की पूरी व्यवस्था नरेन्द्रजी ने की थी। पुष्पा को विदा करके राममूर्ति दिल्ली लौट आये। प्रीती का जन्म नहीं हुआ था। काल एक चतुर जादूगर की भांति कब क्या प्रस्तुत कर देगा उसे नियंता ही जानता है, आदमी नहीं। आगे क्या हुआ स्वयं राममूर्ति के शब्दों में—

इरविन अस्पताल में साठ दिन

लड़की की शादी के बाद जेब तो खाली हो जाती है, लेकिन सर का बोझ कुछ हलका हो जाता है और राहत महसूस होती है। अभी कुछ समय पहले मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। दिसम्बर, १९७४ में मेरी छोटी लड़की पुष्पा की शादी लखनऊ में हुई और सब कुछ बिना विघ्न-बाधा के सम्पन्न हुआ। शादी के बाद मेरे लड़के और लड़कियों ने कहा 'पुष्पा की शादी में आपने काफी दौड-धूप की है, अब कुछ दिन आराम कर लीजिए।' विचार अच्छा था। मैं निश्चिन्त होकर आराम करने के मूड में आ गया। लेकिन किसी को क्या मालूम कि अगले दो महीने मुझे घर में नहीं, बल्कि अस्पताल में लेटे-लेटे बिताने होंगे। पुष्पा की शादी के कुछ समय पहले से मेरा स्वास्थ्य कुछ अच्छा नहीं था यद्यपि मुझे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि मेरा स्वास्थ खराब है। शादी के दो हफ्ते बाद मैं लखनऊ से दिल्ली लौट आया। उस समय मेरे स्वास्थ में गिरावट का कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा था। लेकिन ३० दिसम्बर की रात को अचानक मेरी तबीयत खराब हो गयी। तेज बुखार, बेचैनी और बदन में दर्द। दूसरे दिन पेशाब आना बहुत कम हो गया। संयोग की बात है कि मेरे बड़े लड़के, राजेन्द्र एक दिन पहले दौरे से दिल्ली आ गये थे। दिन में दो डॉक्टर मुझे देखने आये। दोनों डॉक्टरों ने कहा कि घर में रहकर इलाज करना संभव नहीं जान पड़ता, मुझे आज ही किसी अस्पताल में दाखिल हो जाना चाहिए। आल-इंडिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट और सफदरजंग अस्पताल दिल्ली में मेरे निवास स्थान से निकट हैं। मैंने सोचा कि यदि मुझे अस्पताल जाना ही है, तो मैं इन्हीं में से किसी में दाखिल हो जाऊंगा। डॉ० पी० एन० श्रीवास्तव इर्विन अस्पताल में मेडिशियन के लेक्चरर और हमारे मित्र हैं। राजेन्द्र ने जब उन्हें बताया कि मेरी तबीयत खराब है, तो उन्होंने मुझे तुरन्त इर्विन अस्पताल ले आने की सलाह दी। डॉ० श्रीवास्तव को मेरे स्वास्थ्य की जानकारी पहले से थी। और सच बात तो यह है कि पिछले वर्ष अप्रैल में उन्होंने कहा था कि रोग का निदान और इलाज करा लेना आवश्यक है। इर्विन अस्पताल हमारे निवास स्थान से काफी दूर है। मैंने राजेन्द्र से कहा कि तुम लोगों को रोज अस्पताल आने-जाने में कठिनाई होगी, पास के किसी अस्पताल में इलाज कराना ठीक होगा। लेकिन डॉ० श्रीवास्तव के तर्क के आगे मेरी बात अनसुनी कर दी गयी और ३१ दिसम्बर की रात को मैं इर्विन अस्पताल पहुंच गया। नये वर्ष का आरम्भ अस्पताल में हुआ।

यों तो दिल्ली के सभी अस्पतालों में भीड़-भाड़ रहती है, लेकिन शहर के बीच में स्थित होने के कारण इर्विन अस्पताल में रोगियों का जो मजमा इकट्ठा होता है, उसकी तुलना दिल्ली के किसी दूसरे अस्पताल से नहीं की जा सकती। इर्विन

अस्पताल में विभिन्न रोगों के लिए तीस वार्ड हैं। मैं सर्जिकल वार्ड नं० ३ में दाखिल हुआ। इस वार्ड में रोगियों के लिए लगभग ६० चारपाइयां हैं। जब किसी वार्ड में अधिक रोगी आ जाते हैं, तो उनके लिए फर्श पर बिस्तर लगाया जाता है। वार्ड में भर्ती रोगियों के निःशुल्क चिकित्सा के साथ-साथ निःशुल्क नाश्ता और भोजन देने की व्यवस्था है। रोज प्रायः एक ही प्रकार का नाश्ता और भोजन दिया जाता है। सुबह चाय या दलिया, दिन में दस और ग्यारह बजे के बीच दोपहर का भोजन—रोटी, चावल, दाल या मूंग की पतली खिचड़ी, कभी-कभी दही और कमजोर रोगियों को डबल रोटी के स्लाइस, एक अंडा और एक संतरा। तीसरे पहर लगभग ढाई बजे फिर चाय और दिन डूबते ही शाम का भोजन जिसमें प्रायः वही चीजें होती हैं जो दिन दोपहर के भोजन में दी जाती हैं। पहले दिन मैंने अस्पताल का खाना खाया, दही मुझे पसन्द आया। लेकिन सुबह और तीसरे पहर की चाय बहुत फीकी थी। अस्पताल के नियमों में जो नाश्ता और भोजन दिया जाना निर्धारित है, यदि उसके तैयार करने और वितरण में ईमानदारी बरती जाय, तो शायद शिकायत का मौका नहीं आयेगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अस्पताल में फीकी चाय देने का नियम है। यदि रोगियों को पानी जैसी चाय मिलती हो, तो उसका कारण स्पष्टतः यही है कि घटिया किस्म की चाय की पत्ती इस्तेमाल की जाती है और उसमें समुचित मात्रा में चीनी और दूध नहीं मिलाये जाते। रोगियों को प्रायः यह शिकायत थी कि अस्पताल के नियमों के अनुसार जितना और जो भोजन मिलना चाहिए, वह उन्हें नहीं मिलता। लेकिन सबसे बड़ी शिकायत थी, भोजन परसने वाले कर्मचारियों का कटु व्यवहार। कहा जाता है कि यदि रूखा-सूखा भोजन भी प्रेम और सद्भाव के साथ खिलाया जाये, तो उसमें मिठास आ जाती है। लेकिन जब भोजन परसने वाले की वाणी में कटुता हो और वह बात-बात में आंख दिखाता हो, तो सरस भोजन भी नीरस हो जाता है। रहीम के दोहे में भी यही बात कही गयी है—

रहिमन रहिला की भली, जो परसै मन लाय।
परसत मन मैला करे, सो मैदा जरि जाय॥

ऐसी ही कुछ स्थिति उस वार्ड की थी जिसमें मैं दाखिल हुआ। संभवतः इर्विन अस्पताल के दूसरे वार्डों और अन्य सरकारी अस्पतालों की स्थिति इसी प्रकार की होगी। भोजन परसने वाले कुछ कर्मचारियों के व्यवहार से ऐसा जान पड़ता था कि भोजन देकर वे रोगियों के साथ बड़ी मेहरबानी कर रहे हैं। अनपढ़ और निर्धन रोगी विशेष रूप से इस कटुता के शिकार होते थे। अस्पताल में अपनी विवशता के कारण रोगी सब कुछ सह लेते हैं।

वार्ड में २४ घंटे रहने के बाद मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि यदि यहां पर रहकर इलाज कराना है, तो नाश्ता और भोजन का निजी प्रबन्ध करना होगा।

फलतः रोज सुबह और शाम मेरे लिए घर से नाश्ता और भोजन की व्यवस्था की गयी।

नाश्ते और भोजन की व्यवस्था हो जाने पर मैं कुछ आश्वस्त हुआ। लेकिन वार्ड में मुझे एक दूसरी प्रत्याशित कठिनाई का सामना करना पड़ा। मैं धूम्रपान नहीं करता। बीड़ी और सिगरेट का धुआं मुझे अत्यन्त अरुचिकर लगता है। यद्यपि वार्ड में धूम्रपान करने की मनाही है, लेकिन रोगी इस नियम का पालन नहीं करते। स्वयं अस्पताल के निम्न श्रेणी के कर्मचारी इस नियम का उल्लंघन करते हैं। किसी नर्स या डॉक्टर को मैंने वार्ड में बीड़ी या सिगरेट पीते नहीं देखा। जब डॉक्टरों का राउण्ड होता है, उस समय लोग बीड़ी, सिगरेट और माचिस बिस्तर के नीचे या जेब में छिपा लेते हैं। लेकिन डॉक्टरों के जाते ही माचिस जल उठती और वार्ड में बीड़ी-सिगरेट का धुआं फैल जाता। अस्पताल में अपने प्रवास की अवधि में धूम्रपान के प्रदूषण से बचने के लिए मैंने तीन बार खाट बदली, लेकिन जब वार्ड में सब जगह बीड़ी-सिगरेट पीने वाले मौजूद हों, तो प्रदूषण से बच निकलने का प्रश्न कहां उठता है। वार्ड में सफाई की अच्छी व्यवस्था है। सुबह से लेकर शाम तक कम-से-कम चार बार वार्ड की सफाई की जाती है और हर रविवार को पूरा वार्ड पानी और फिनायल से धोया जाता है। यदि अस्पताल में भर्ती होने वाले रोगी वार्ड के नियमों का पालन करें, तो वार्ड और अधिक साफ-सुथरा रखा जा सकता है जो सबके हित में है।

मेरा इलाज प्रो० सुशील कुमार नायर के यूनिट में हो रहा था। प्रो० नायर मृदुभाषी और सरल स्वभाव के सर्जन हैं। रोगियों के प्रति इनके व्यवहार में मैंने कभी कटुता नहीं देखी। रोगी के पास आकर बड़ी आत्मीयता के साथ उससे बात करते हैं और उसके उपचार के संबंध में निर्देश देते हैं। वार्ड में अन्य रोगियों की तरह मुझे भी इस बात का बड़ा सन्तोष था कि मेरा इलाज प्रो० नायर की देख-रेख में हो रहा है। प्रारम्भिक जांच के बाद डॉक्टरों ने बताया कि मूत्राशय के द्वार को नियंत्रित करने वाली मांसपेशी बढ़ गयी है जिसकी वजह से मूत्राशय में पेशाब रुक जाता है। चिकित्सा विज्ञान में इसे प्रोस्ट्रेट की वृद्धि कहते हैं। प्रोस्ट्रेट वृद्धावस्था का रोग है और प्रायः ६० वर्ष और उससे अधिक आयु वालों को होता है। पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली में ऑपरेशन के अलावा प्रोस्ट्रेट की वृद्धि का कोई दूसरा इलाज नहीं है। ऑपरेशन से पहले डॉक्टरों का यही प्रयास होता है कि मूत्राशय में पेशाब जमा न होने पाये। इसके लिए रोगी की जननेन्द्रिय में नली लगा दी जाती है ताकि पेशाब बाहर निकलता रहे।

जब ऑपरेशन की बात दिल्ली से बाहर मेरे लड़कों, लड़कियों और अन्य संबंधियों तक पहुंची तो लोग घबरा गये। अस्पताल से मैंने सबको पत्र लिखना शुरू किया कि मेरी बीमारी कोई गम्भीर बीमारी नहीं है, इसलिए किसी प्रकार

की आशंका नहीं करनी चाहिए। मेरे पत्रों से प्राय: सबको कुछ ढ़ाढ़स बंधा। फिर भी मेरी बीमारी का समाचार पाकर लखनऊ से मेरे छोटे लड़के नरेन्द्र गांव से छोटे भाई और आजमगढ़ से मझले भाई दिल्ली आ गये। मेरे मझले भाई होमियोपैथ हैं। उन्होंने कहा कि होमियोपैथी में इस रोग की कई अच्छी दवाएं हैं, ऑपरेशन करने की जरूरत नहीं है। अस्पताल में दाखिल होने से कुछ समय पहले मैं होमियोपैथी का इलाज कर चुका था। उससे मेरे स्वास्थ्य में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। मेरे मझले भाई मेरी आयु के कारण ऑपरेशन से हिचक रहे थे।

मैं जब अस्पताल में दाखिल हुआ, तो मैं समझता था कि बीस-पचीस दिन में अस्पताल से छुट्टी मिल जायेगी। लेकिन मेरा अनुमान गलत निकला। रक्त की जांच से मालूम हुआ कि 'ब्लड यूरिया' बढ़ा हुआ है। डॉक्टरों ने कहा कि जब तक रक्त में यह विषैला तत्त्व अधिक मात्रा में वर्तमान है, तब तक ऑपरेशन नहीं किया जायेगा। शरीर में जो विषैला तत्त्व बनता है, उसे बाहर निकालने का काम गुर्दों का है। पेशाब के साथ यह विषैला तत्त्व शरीर से बाहर निकलता रहता है। लेकिन जब गुर्दे ठीक ढंग से अपना काम नहीं करते, तो यह विष पेशाब के साथ न निकल कर, रक्त में मिलता रहता है और रक्त को दूषित कर देता है। पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली में 'ब्लड यूरिया' को नियंत्रित करने का कोई निर्दिष्ट उपचार नहीं है। प्रयास यह किया जाता है कि रोगी को अधिक-से-अधिक पेशाब आये ताकि यूरिया शरीर से निकलता रहे अधिक पेशाब लाने के लिए २५% ग्लूकोज का मीठा पानी मुझे दिया जाने लगा। चौबीस घंटे में चार बोतल ग्लूकोज का पानी पीना होता था। लगभग तीन हफ्ते तक यह उपचार चलता रहा और बड़ी प्रतीक्षा के बाद 'ब्लड यूरिया' कम हुआ। जब 'ब्लड यूरिया' कम हुआ तो गुर्दों के एक्सरे की बारी आयी जिसे अस्पताल की भाषा में 'आई० वी० पी०' कहते हैं। गुर्दों और प्रोस्ट्रेट की चिकित्सा में 'आई० वी० पी०' एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। पहली बार जब मैं 'आई० वी० पी०' के लिए गया तो एक्सरे वालों ने यह कहकर लौटा दिया कि पेट साफ नहीं है, एक्सरे नहीं लिया जा सकता। एक हफ्ते बाद दूसरी तारीख नियत की गयी। इस बार 'आई० वी० पी०' तो हुआ, लेकिन एक्सरे बिलकुल साफ नहीं आया। एक्सरे पहले लेने से इंजेक्शन लगाकर गुर्दों तक रंजक पहुंचाया जाता है जिसे अंग्रेजी में 'ड़ाई' कहते हैं। जब रजक गुर्दों से होकर गुजरता है, तो एक्सरे में गुर्दों का फोटो बहुत साफ आता है। एक्सरे विभाग ने लिखकर दिया कि मेरे गुर्दों से रंजक नहीं गुजर रहा है, इसलिए एक्सरे स्पष्ट नहीं आ सकता। रक्त में यूरिया का प्रतिशत अधिक होना और गुर्दों से रंजक का न गुजरना इस बात के निश्चित संकेत थे कि गुर्दे निष्क्रिय हैं या अपना काम ठीक ढंग से नही कर रहे हैं। मेरा इलाज करने वाले डॉक्टर चिंतित हो गये। मैंने वार्ड के रजिस्ट्रार से बात की। उन्होंने बताया कि जब गुर्दों के क्रियाकलाप की

सही जानकारी न हो, तो उस हालत में प्रोस्ट्रेट का ऑपरेशन थोड़ा खतरनाक हो सकता है। ऐसा जान पड़ा कि मेरे उपचार में गतिरोध आ जायेगा। अन्त में प्रोफेसर नायर ने यह तय किया कि अभी मेरा स्वास्थ्य अच्छा है, यदि मैं सहमत हो जाऊं, तो ऑपरेशन किया जा सकता है। ऑपरेशन कराने या न कराने का निर्णय मुझ पर छोड़ दिया गया। काफी सोच-विचार और डॉक्टर श्रीवास्तव से परामर्श करने के बाद मैं ऑपरेशन के लिए तैयार हो गया। यदि स्वास्थ्य और जीवन की रक्षा के लिए ऑपरेशन अनिवार्य है, तो उससे भागना ठीक नहीं।

ऑपरेशन छोटा हो या बड़ा, दहशत तो सबको होती है। मालूम नहीं क्या होगा? मेरे ऑपरेशन में तो कुछ खतरा था ही, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि ऑपरेशन होने पर मेरे गुर्दों की प्रतिक्रिया क्या होगी? ऑपरेशन से चार-पांच दिन पहले दिमाग में तरह-तरह के विचार दौड़ते रहे, लेकिन ऑपरेशन की तारीख ज्यों-ज्यों निकट आयी, मेरे मन में कुछ दृढ़ता आने लगी। खतरा तो सड़क पार करने में भी है। ऑपरेशन के दिन सुबह जब मैं ऑपरेशन-कक्ष में गया उस समय मुझे किसी प्रकार की दिमागी परेशानी नहीं थी। ऑपरेशन-कक्ष मुझे भयानक नहीं लगा जैसा कि प्रायः लोग कल्पना करते हैं। ऑपरेशन-कक्ष में आते प्रोफेसर नायर ने कहा, "मिस्टर सिंह, हम आपको बेहोश नहीं करेंगे, लोकल एनेस्थीशिया—अर्थात् ऑपरेशन वाले स्थान को सुन्न करके—ऑपरेशन किया जायेगा, आप को कोई तकलीफ नहीं होगी।" प्रोफेसर नायर की बात सुनकर मेरा मनोबल और बढ़ गया। ऑपरेशन के दौरान मुझे किसी तरह की मानसिक या शारीरिक परेशानी नहीं हुई। ऑपरेशन के बाद दो-तीन दिन आमतौर पर जो बेचैनी होती है, उससे भी मैं मुक्त रहा। गुर्दों की प्रतिक्रिया के बारे में जो आशंका व्यक्त की गयी थी, वह भी निराधार निकली। चीरा लगने के १५ दिन बाद मैं अस्पताल से घर आ गया। घर आने पर मेरे स्वास्थ्य में तेजी से सुधार होने लगा। कुछ दिन बाद डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा कि जिस प्रकार मेरे स्वास्थ्य में सुधार हुआ है, उसकी आशा किसी डॉक्टर को न थी। हरि इच्छा बलवान।

इर्विन अस्पताल में ठीक दो महीने के प्रवास में जो तकलीफें और परेशानियां उठानी पड़ीं, स्वास्थ्य में सुधार के साथ वे स्मृति-पटल से मिटती जा रही हैं। लेकिन प्रोफेसर नायर और उनके सहयोगियों के भ्रातृवत् व्यवहार और वार्ड में भोजन परसने वाले कर्मचारी की लाल-लाल आंखों की याद बनी हुई है।"

नौ

ऑपरेशन के बाद राममूर्ति का स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा यद्यपि पहले जैसा स्वास्थ्य, शरीर कभी नहीं हुआ। उनके जीवन का यह प्रथम और अंतिम

अवसर था अस्पताल में भर्ती होने का। ऑपरेशन का निर्णय लेना कठिन था। उनकी किडनी को पर्याप्त क्षति पहुंच चुकी थी। डॉक्टर भी दो मत के थे। निर्णय उन्हीं पर छोड़ दिया गया था। ऑपरेशन के बाद घाव से स्राव आते देख उनका मनोबल टूट गया था। नरेन्द्रजी ने उसी क्षण का वर्णन अपने संस्करण में किया है। अभी स्वास्थ्य-लाभ हो ही रहा था कि एक अन्य समस्या प्रस्तुत हो गई। राजेन्द्र का दिल्ली से शिलांग स्थानांतरण हो गया। ईर्ष्या ने आखिर जन्म ले ही लिया। स्थानांतरण का अभिप्राय था विगत २५ वर्ष की घर-गृहस्थी को दिल्ली से समेटना। किन्तु फिर कहां? राजेन्द्र के स्थानांतरण का पूर्वाभास डेढ़ वर्ष पहले उनके विभागीय निदेशक के बदल जाने के साथ-साथ हो गया था। मीनू और अनू को सेंट मैरीज स्कूल से निकालकर केन्द्रीय विद्यालय में एक वर्ष पहले इसी स्थिति को ध्यान में रखकर करा दिया गया था, जिससे उनकी शिक्षा में, स्थानांतरण के कारण कोई व्यवधान न हो। पुष्पा की शादी के बाद बनारस में एक प्लाट लेकर भवन-निर्माण की योजना पूरी कर ली गयी। सरकार से भवन-निर्माणार्थ अग्रिम राशि की प्रतीक्षा थी। संयोग से स्थानांतरण और भवन-निर्माण के लिए सरकारी धन का आदेश—दोनों साथ-साथ मिले। किन्तु इसके पहले कि मकान बनाने का काम प्रारंभ किया जाता, बड़ी बहू को भयंकर पेट-दर्द के कारण अस्पताल में भरती कराना पड़ा। अंत तक डॉक्टर इस बात को लेकर एकमत नहीं हो सके थे कि दर्द रसौली के कारण था या अपेन्डिसाइटीज के कारण। डॉ० माया श्रीवास्तवा (डॉक्टर प्रेम नारायण श्रीवास्तव की पत्नी) गाइनी की विशेषज्ञ थीं, उन्होंने किसी अन्य गाइनी विशेषज्ञ से सलाह ली और यही तय पाया गया कि रसौली का ऑपरेशन कर दिया जाये। विलिंग्डन अस्पताल में रसौली और अपेन्डीसाइटीज का ऑपरेशन कराकर बहू जब घर लौटी तो सवा साल की प्रीती को ब्रान्काइटीज हो गया था। वह बीमार पड़ी तो वर्षों तक उसका इलाज चलता रहा। धन्य हैं दूकान खोलकर बैठे ये डॉक्टर जिन्हें मात्र अपनी फीस से सरोकार है। वे भूल जाते हैं कि उनकी राय के पीछे किसी के जीवन का प्रश्न जुड़ा हुआ है। किसी परिवार के सुख-दुख का प्रश्न है। प्रीती के साथ भी यही हुआ। बनारस के एक शिशु विशेषज्ञ उसे डेढ़ वर्ष तक प्राइमरी काम्प्लेक्स के उपचार के लिए दवा देते रहे। अंत में जब लाभ नहीं हुआ तो ब्रान्काइटीज का होमियोपैथी इलाज किया गया। प्रीती दवा खाने से नहीं, दवा न खिलाने से स्वस्थ हो गई। भगवान जाने बनारस के प्रमुख सरकारी अस्पताल के शिशु विशेषज्ञ कितने अन्य बच्चों को अस्वस्थ बना रहे होंगे!

अवकाश लेकर राजेन्द्र बनारस मकान बनवाने चले गये। आपात काल की स्थिति ने इस शुभ कार्य को यथोचित गति दिया। सभी सामग्री उचित मूल्य पर बाजार में सरलता से उपलब्ध थी। कारीगर और मजदूर भी उन दिनों खाली-से

हो गये थे। इस काम में उन्हें जहां उनके ससुर के अनुभव और परिचय का लाभ मिला वहीं सगे-संबंधियों द्वारा भाग-दौड़ में मदद भी। देखते-देखते चार महीने में मकान बनकर तैयार हो गया। मई, १९७७ में राममूर्ति और उनके परिवार ने २५-२६ वर्ष रहने के बाद दिल्ली से विदा ली और बनारस आकर बस गया। उनके जीवन के पच्चीस वर्ष संघर्षमय किन्तु स्वर्णिम दिन थे। मनुष्य की शक्तियों का निखार संघर्ष के समय ही होता है। पड़े-पड़े तलवार को भी जंग लग जाता है—

रंग लाती है हिना पत्थर से घिस जाने के बाद।
सुर्खरू होता है इंसां ठोकरें खाने के बाद।।

स्वभाव से जिद्दी और मेहनती राममूर्ति ने समस्याओं का सामना बड़े धैर्य से किया। लक्ष्य निर्धारित करके चलते रहे। विधाता उनके परिश्रम का पारितोषिक मुक्त-हस्त से देता गया। बारह वर्ष सेक्टर तीन, ३५२ नं० के मकान में रह लेने के बाद उसे छोड़ते समय अपार कष्ट हो रहा था। इस कष्ट को यदि कुछ कम कर रहा था तो अपने मकान में जाने की सुखानुभूति। मनुष्य कितना भावुक प्राणी है। उसे जीव-निर्जीव सभी से लगाव हो जाता है। वह जहां रहता है वहीं का हो जाता है। यही स्वाभाविक भी है। इसकी विशालता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में समाप्त होती है।

बनारस आकर राममूर्ति को जिस स्थिति का सामना करना पड़ा उसके लिए वह तैयार तो थे किन्तु उनकी मानसिक रचना तदनुसार नहीं थी। हमेशा वह भरे परिवार में रह आये थे बच्चों के बीच। अपने एकाकी जीवन के उदास क्षणों को उन्होंने बच्चों के साथ हंसते-हंसते काट दिया था। उन्हीं की किलकारियों में डुबो दिया था सारा दर्द। बनारस आने के दो सप्ताह बाद बच्चे शिलांग चले गए। पूरे मकान में केवल राममूर्ति और उनके भतीजे अरुण रह गये। अरुण इण्टर (कृषि) में पढ़ रहे थे। संयोग से एक दिन राममूर्ति की भेंट भूतपूर्व सहपाठी श्री केशवदेव चौबे से हो गयी। चौबेजी भी अवकाश प्राप्त करके पास ही बौलिया-बाग में रहते थे। इन लोगों का रोज का मिलना-जुलना हो गया। इन्हीं लोगों के साथ ठाकुर राम अधीन सिंह (समधी) भी आ मिले। तीनों जने शाम को एकत्र होते और घंटों चर्चा-परिचर्चा में गुजार देते। अरुण ने अपने संस्मरण में इसकी चर्चा की है। राममूर्ति के आकस्मिक निधन से इन दोनों व्यक्तियों को अपार कष्ट हुआ। चौबेजी के संस्मरण से लगता है कि उनकी कोई अनमोल निधि खो गई है और उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि यह सब असमय क्यों हुआ? राम अधीन सिंह तो अब भी उसी स्थान पर नित्य बैठकर घंटों गुजार देते हैं। इन लोगों के साथ राममूर्ति का सूनापन जो बच्चों के शिलांग चले जाने के बाद आ गया था, कुछ कम हो गया। इस बीच शब्दावली का काम पूरे जोर पर चला। फलस्वरूप

'मानक हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोश' का द्वितीय संस्करण प्रेस में चला गया। इस बीच महेशजी की थीसिस का काम पीछे होता जा रहा था। इस कार्य में महेशजी को उनसे यथेष्ट सहायता मिली जिसे उन्होंने अपनी थीसिस में स्वीकार किया है। राजेन्द्र को कुछ समय के लिए सन् १९७८ में विदेश जाना हुआ। बच्चे शिलांग से पुनः वाराणसी आ गये। यही वे अंतिम डेढ़ वर्ष थे जो उन्होंने बच्चों के साथ गुजारे। मीनू दसवीं में थी। उसको पढ़ाते। उसकी पुस्तकों को पढ़कर सारांश लिखते। ठीक वैसे ही जैसे छब्बीस वर्ष पहले उन्होंने राजेन्द्र के लिए लिखा था। मीनू की प्रगति से प्रारम्भ में सन्तुष्ट नहीं थे। प्रोत्साहनार्थ उन्होंने लिखित शर्तें रखी जिसकी चर्चा मीनू ने अपने संस्मरण में किया है। दसवीं में मीनू अच्छे अंकों से पास हुई। उन्होंने राजेन्द्र को पत्र में लिखा—

वाराणसी,
२५ जून, १९७९

प्रिय राजेन्द्र,

आशीर्वाद

मीनू का परीक्षा-फल यहां दिल्ली से २२ जून को आया। २३ जून को मैंने बधाई का तार भेजा था। टी० सी० भी २३ जून को मिल गया। उसे इस पत्र के साथ भेज रहा हूं। मार्क्सशीट इसी हफ्ते मिल जाने की आशा है। उसे भी शीघ्र भेज दूंगा। मीनू का गणित में डिस्टिंक्शन आया है। अंग्रेजी को छोड़कर अन्य विषयों में भी ६०% से अधिक अंक मिले हैं। मीनू द्वारा प्राप्त अंकों का विवरण इस प्रकार है—

मीनू का प्रयास सफल रहा—यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। उसे पुनः बधाई। उसका पुरस्कार यथा समय भेजूंगा।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

कुल मिलाकर इस व्यवस्था से वे अत्यन्त प्रसन्न थे। पत्र द्वारा सभी को समाचार देते और लेते। बीच-बीच में एक-दो दिन के लिए फैजाबाद शीला के पास हो आते। उनका ध्यान पूरे परिवार पर था। वह कुछ ऐसा करके दिखाना चाहते थे कि छोटे भाई शीतला का परिवार भी अपने पांव पर खड़ा हो जाये। डेढ़ वर्ष बाद बच्चे पुनः शिलांग राजेन्द्र के पास चले गये। अकेले रहने का उनमें सामर्थ्य नहीं था। यद्यपि अरुण उनके साथ थे फिर भी एकाकीपन ने उन्हें कमजोर बना दिया। भोजन बनाने के लिए नौकर था। फिर भी खाने-पीने में अव्यवस्था हो गई। स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। मूत्र संबंधी कष्ट उन्हें पुनः हो गया। रक्त-चाप भी अधिक रहने लगा। मन तो पहले ही उदास था, शरीर की

अस्वस्थता ने उसे और भी उदासीन बना दिया। नरेन्द्र चण्डीगढ़ में नियुक्त थे। वहीं जाकर डॉक्टर छुटानी से इलाज कराया ऐसा उन्होंने नरेन्द्र के अनुरोध पर किया। शरीर को कुछ आराम हुआ या नहीं, बच्चों के बीच चण्डीगढ़ रहकर उनको अच्छा लगा। चण्डीगढ़ से २ जून, ८१ को प्रीती के लिए लिखे पत्र से उनके चित्त की प्रसन्नता झलकती है। प्रीती को वे अंग्रेजी में पत्र लिखते थे।

Chandigarh,
June 2, 81.

My dear Preeti,

Many thanks for your letter which I received yesterday. I am glad to know that you all are fine. Deepu left for Nigeria on 24th of May, we all went to Delhi to see him off. Vivek and Veenu are all right here. Your papa and Meenu must have reached Varanasi yesterday. It is very hot in Chandigarh these days. I shall certainly come to Shillong as soon as it cools down a little. I am also writing to your papa at Varanasi.

I am sure you and Anu are going to your school regularly. Convey my love to Anu and Ashirvad to your Mummy. Hope this finds you all in good cheer. Vivek and Veenu will write to you separately.

Yours affectionately,
Babuji

अपने स्वास्थ्य से अधिक उन्हें छोटे भाई केशव (वीरेन्द्र बहादुर सिंह) के स्वास्थ्य की चिंता थी। चंडीगढ़ उन्हें भी इलाज के लिए बुलाया। चंडीगढ़ से १६ जून को उन्होंने राजेन्द्र को लिखा—

चंडीगढ़,
१६ जून, १९८१

प्रिय राजेन्द्र,

आशीर्वाद

तुम्हारा दस जून का पत्र कल और ५ जून वाला पत्र तीन दिन पहले मिला। मीनू के प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के समाचार से यहां सबको बड़ी प्रसन्नता है। मीनू को बहुत-बहुत बधाई। कल बम्बई से तीर्थराज का पत्र मिला है। रेनू भी इस वर्ष प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। अब उसका नाम बी० कॉम० में लिखाया जा रहा है।

मैंने ६ जून को वाराणसी के पते से तुम्हें एक और पत्र भेजा था। वह पत्र समय पर वाराणसी नहीं पहुंच सका और ११ जून को तुम लोग शिलांग चले गये। उस पत्र में विशेष बात यह थी कि नाइजीरिया से सुरेन्द्र का पत्र आया है। दीपू २५ मई की शाम को सकुशल लेगोस पहुंच गये। दीपू १६ जुलाई तक स्वदेश वापस आयेंगे। सुरेन्द्र के पत्र से यह मालूम हुआ कि उन्होंने भी मकान का एक कच्चा नक्शा बनवाया है जिसे वह मेरे पास भेज रहे हैं। उनका नक्शा मिलने पर आगे की कार्रवाई की जायेगी।

केशो और अशोक की मां परसों यहां आये। उनका इलाज कल से आरंभ होगा। इलाज लंबे अरसे तक चलने की संभावना है। ऐसा जान पड़ता है कि निदान हो जाने के बाद कुछ दिन इनका इलाज यहां चलेगा और उसके बाद लोग आजमगढ़ लौट जायेंगे। नरेन्द्र मद्रास से वापस आ गये हैं। यहां विवेक, वीनू, मंजू, नरेन्द्र और नगेन्द्र अच्छी तरह हैं। आशा है तुम सब लोग भी स्वस्थ और प्रसन्न हो। अनू का परीक्षाफल भी बहुत अच्छा रहा। आशा है कक्षा १० में वह कम-से-कम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगी ही। प्रीतीजी का समाचार देना। मैंने प्रीती के नाम पत्र भेजा था। आशा है पत्र मिला होगा।

प्रीतीजी, अनू और मीनू को प्यार तथा प्रेम लता को आशीर्वाद। मीनू को एक बार फिर बधाई।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

'गागर में सागर' का आभास होता था उनके पत्रों में। एक अन्तर्देशीय में मानो दुनिया भर के समाचार निहित हों। उस छोटी सी दुनिया के जो उनकी अपनी थी। जिसके प्रत्येक छोटे-बड़े के दुःख-दर्द का आभास सर्वप्रथम उन्हें होता था। जहां कहीं उन्हें थोड़ी भी दरार नजर आती उसे भरसक भरने की चेष्टा करते। शीतला और केशो के आपसी मन-मुटाव से उन्हें आंतरिक क्लेश पहुंचता। उससे भी अधिक क्लेश होता जब वह अपने आपको अधिक कुछ कर सकने में विफल पाते। फिर भी अंत तक दोनों भाइयों के आपसी संबंध सुधारने की दिशा में प्रयत्नशील रहे। अपने संस्मरण में सुरेन्द्रजी ने ठीक ही इसको उनकी 'अंतिम कामना' बतलाया है। २२ जुलाई, ८१ को राजेन्द्र को लिखे गये पत्र में उनकी मनोव्यथा उन्हीं के शब्दों में—

वाराणसी,
२२ जुलाई, ८१

प्रिय राजेन्द्र,

आशीर्वाद !

तुम सब लोगों के १४ जुलाई के पत्र मिले। समाचार पाकर प्रसन्नता हुई।

मैं प्रीती के जन्म दिन पर शिलांग आना चाहता था, लेकिन अत्यधिक वर्षा के कारण मैंने विचार बदल दिया। मीनू के नानाजी ट्रेक्टर लेकर चंडीगढ़ से पिछले हफ्ते वापस आये। ट्रेक्टर पाकर उनको और उनके परिवार को बड़ी प्रसन्नता है। चंडीगढ़ में केशो की सविस्तार जांच हुई। डॉक्टरों से पूछने पर मालूम हुआ कि ब्लड-प्रेशर की शिकायत बहुत पुरानी है, अतः डेढ़-दो साल इलाज करना होगा। सभी डॉक्टर इस मत के हैं कि यदि वह मनोयोग से दवा करें और खान-पान में संयम बरतें, तो उनके स्वास्थ्य में जो गिरावट आ रही है वह रुक जायेगी। केशो का वजन बहुत अधिक है, उसे घटाने पर डॉक्टरों ने जोर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि केशो का मनोबल गिर गया है। प्रायः इलाज बदलते रहते हैं। फिर भी आशा करनी चाहिए कि चंडीगढ़ से लौटने के बाद वह सतर्क हो जायेंगे।

शीतला और केशो के बीच इस समय मनोमालिन्य बहुत बढ़ गया है। अलग हो जाने की नौबत आ गयी है। मैं इनके बीच आई हुई कटुता को दूर करने का प्रयास कर रहा हूं। इसमें मुझे कितनी सफलता मिलेगी—यह भविष्य बतलाएगा।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

भविष्य समय का भुलावा है। आशावान व्यक्ति की मृगमरीचिका। व्यक्ति को केवल वर्तमान मिला है। भविष्य में क्या हुआ यह बात राममूर्ति को तो नहीं मालूम किन्तु उनके बच्चों ने देखा। परिवार और सगे-संबंधियों ने देखा। उनके निधन के ठीक एक सौ बीसवें दिन बाद, केशो बाबू के द्वितीय पुत्र का तिलक समारोह और तिलक के बारह दिन बाद विवाह सम्पन्न हुआ। तेरहवीं का दिन अभी नाते-रिश्तेदारों के मानस-पटल से उतरा नहीं था कि जिन लोगों ने चार महीने पहले काले किनारे का कार्ड भेजकर परिवार के मुखिया के तेरहवीं की सूचना उन्हें शोकभरे शब्दों में दी थी उन्हीं लोगों ने हर्षपूर्वक हल्दी लगे शादी के निमंत्रण भेजे! इतनी जल्दी? क्या आसमान फटा जा रहा था? अथवा पृथ्वी पातालगामिनी हो रही थी? मुखिया को लेकर उनका दुःख क्या मात्र दिखावा था? वह क्या वास्तविकता नहीं थी? क्या उनकी स्मृति को बनाये रखने का यह आधुनिक ढंग है? अथवा उनके न रहने की खुशी का प्रतीक? इन प्रश्नों का उत्तर उनकी समझ में न तब आया और न कभी आयेगा। ईश्वर आदमी से उचित-अनुचित दोनों कराता है। उचित क्या है? अनुचित क्या है? यह व्यक्ति और काल की सीमा में बंधी वस्तुस्थिति को देखने का मात्र एक ढंग। उसकी करनी के पीछे मनुष्य को सदैव हित देखना चाहिए। इसी बात को राममूर्ति के

बच्चों ने देखने का प्रयास किया। पाठक भी इसे यहीं छोड़ दें।

घरेलू समस्याओं को लेकर वह घंटों मनन करते। यदा-कदा अपनी इच्छा पत्रों में व्यक्त कर देते। पत्र न आने से अथवा विलम्ब से आने पर वह उद्विग्न हो जाते। अरुण उनके पास रहते। उनके मन की उद्विग्नता यदि कोई थोड़ा-बहुत देख पाया तो वह अरुण ही हैं। कठिन-से-कठिन समस्याओं के बीच अडिग रहने वाला कर्मयोगी अब भीतर से कमजोर हो रहा था। अपने १६ अगस्त, ८१ के पत्र में राजेन्द्र को लिखा—

वाराणसी,
१६ अगस्त, ८१

प्रिय राजेन्द्र

आशीर्वाद

तुम्हारा २ अगस्त का पत्र आज मिला। पत्र पाकर राहत मिली। इस बीच लगभग ४ हफ्ते से तुम लोगों का समाचार न मिलने के कारण थोड़ी व्यग्रता हो गयी और कल ही मैंने कुशल-मंगल का समाचार पाने के उद्देश्य से तुम्हें तार दिया। चंडीगढ़ से लौटने के बाद से घर, आजमगढ़, गुलाबबाग की स्थिति और अरुण के परीक्षाफल से संबंधित घोटाले के कारण कुछ ऐसा मानसिक तनाव पैदा हुआ जो मेरे स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं था। लेकिन ईश्वर की कृपा से मेरा स्वास्थ्य सामान्यत: ठीक रहा। इस बीच मनोबल बढ़ाने वाली एक घटना घटी जिसे मैं इस वर्ष की उपलब्धि मानूंगा। दौड़-धूप के फलस्वरूप और कुछ मित्रों के सहयोग से अरुण का परीक्षाफल इस महीने की पहली तारीख को मिला। अरुण पास है।

चंडीगढ़ से नरेन्द्र का एक पत्र एक हफ्ते पहले आया था। दीपू १६ जुलाई को भारत न आ सके। अब एक अगस्त को उनके दिल्ली पहुंचने का समाचार मिला है। नरेन्द्र का पत्र मिलने पर मालूम होगा कि दीपू एक अगस्त को आये या नहीं।

यहां का समाचर ठीक है। मीनू के नानाजी प्राय: हर रोज आते हैं। मैं शिलांग तुम लोगों से भेंट-मुलाकात करने के लिए आता रहूंगा। मेरे यहां से हटने पर मकान की हालत खस्ता हो जाती है। इस बार संयोग से दोनों किरायेदार सभ्य और सुसंस्कृत मिले हैं। श्रीवास्तवजी की तरह दूबेजी भी सरल स्वभाव के हैं।

आशा है प्रीती अब पूर्णत: स्वस्थ होगी। प्रीती, अनू और मीनू को प्यार तथा प्रेमलता को आशीर्वाद। यदि अनू को किसी किताब की जरूरत हो, तो मुझे सूचित करें। मैं अंग्रेजी-हिन्दी और इतिहास आदि में अनू की कुछ सहायता करना

चाहता हूं। देखो यह कैसे सभव होता है ?

शुभेच्छु—
बाबूजी

वाराणसी से ही २१ सितम्बर, ८१ को प्रीती के नाम लिखे पत्र में भी समाचार न पाने पर उनकी व्यग्रता स्पष्ट है। उनके पत्रों में सभी जगह के समाचार होते और सभी से पत्रों की उन्हें बराबर आशा रहती। सबसे मिलने की व्यग्रता। एकाकीपन को दूर करने में पत्राचार सहायक था।

वाराणसी,
२१-९-८१

प्रिय प्रीतीजी,

नमस्कार और बहुत-बहुत प्यार !

इस बीच फिर तुम लोगों का समाचार नहीं मिला। जान पड़ता है कि राजेन्द्र दौड़े पर चले गये हैं, इसीलिए पत्र नहीं आ रहे हैं। इस महीने के पहले हफ्ते में मैंने राजेन्द्र के नाम पत्र भेजा था। आशा है पत्र मिला होगा।

आज लम्बी प्रतीक्षा के बाद नरेन्द्र का पत्र आया। चंडीगढ़ से उनका ट्रान्सफर हो गया है। नरेन्द्र सपरिवार ८ सितम्बर को भोपाल गए। विवेक, बीनू और दीपू का नाम नहीं लिखाया जा रहा है। दीपू नाइजीरिया से ११ अगस्त को आए लेकिन हम लोगों को उनके आने की सूचना आज ही मिली। नरेन्द्र के स्थानान्तरण से किसी को प्रसन्नता नहीं है। अब फिर उन्हें लम्बे-लम्बे दौड़े करने पड़ेंगे।

अरुण के चार प्रैक्टिकल हो गए। अभी तीन बाकी हैं। इनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ है, लेकिन अभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हुए हैं। इसलिए उनकी परीक्षा तक मेरा यहां रहना जरूरी है। मुझे भी कुछ खांसी आ रही है।

तुम्हारे नानाजी अच्छी तरह हैं। गुलाब बाग और उदयराज सिंह के यहां सब लोग ठीक-ठाक हैं। गन्नू के स्वास्थ्य में सुधार होने का समाचार मिला है।

आशा है तुम सब लोग स्वस्थ और प्रसन्न हो। अपना समाचार देना। अनू और मीनू को प्यार तथा प्रेमलता और राजेन्द्र को आशीर्वाद। मैं तुम लोगों से मिलने के लिए इच्छुक हूं। देखो कब तक भेंट होती है। नाइजीरिया से सुरेन्द्र का पत्र आया है। वहां प्रिया सहित सब लोग प्रसन्न हैं। दीपू के भारत पहुंचने की सूचना अभी तक उन लोगों को नहीं मिली है, इसलिए कुछ असमंजस में है। आजमगढ़ से दिनेश दो बार आए थे। केशो का स्वास्थ्य सामान्यतः ठीक है। इलाज बराबर चल रहा है।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

बच्चों से मिलने अरुण को साथ लेकर वह शिलांग पहुंचे। राजेन्द्रजी के शब्दों में—

"२१ अक्टूबर, १९८१ को अरुण के साथ वह शिलांग देर रात को पहुंचे। उन्हें लेने मैं गौहाटी गया था। दो दिन की रेल-यात्रा के बाद उन्हें थकावट थी। डॉ० राय से सम्पर्क किया गया। उनकी दवा से उन्हें यथेष्ट आराम मिला। उन्हें सामान्य रूप से भूख लगती। भोजन सबके साथ करते। नित्य प्रीती के स्कूल जाते और उसे घर ले आते। यानी चार किलोमीटर पहाड़ में चल-फिर लेते। अनू का जन्मदिन एक नवम्बर को पड़ता है। उसके जन्मदिन पर उन्होंने उसे सौ रुपये दिए। अनू दसवीं में थी। बोर्ड की परीक्षा की तैयारी मीनू को दो वर्ष पहले करा चुके थे तो अनू को क्यों नहीं कराते! रोज सुबह दो-तीन घंटा अनू की पुस्तकों को पढ़कर सारांश लिखते। इस बार शिलांग में उनका परिचय भाई जयप्रकाश सिंह आई० ए० एस० से हुआ। विश्वनाथ सिंह (इंचार्ज शिलांग फायर स्टेशन) से तो पूर्व-परिचित थे ही। इन लोगों के बीच उनका समय अच्छा निकल गया। हर बार से अधिक इस बार शिलांग रहकर दिसम्बर के दूसरे सप्ताह में वाराणसी वापस चले गए। अनू की बोर्ड की परीक्षा के कारण इस वर्ष हम लोगों का जाड़ों में वाराणसी जाने का कार्यक्रम नहीं था यद्यपि उनकी इच्छा थी कि सब लोग उनके साथ बनारस चलें। मुझसे कहा तो मैंने अनू की परीक्षा की बात कह-कर अनिच्छा व्यक्त की। उन्होंने तुरन्त कहा, 'बच्चों की पढ़ाई को मैं सर्वोपरि स्थान देतता हूं।' उनकी इच्छा का जादू ऐसा हुआ कि वह गौहाटी भी न जा सके होंगे कि हम लोगों ने वाराणसी आने का निर्णय ले लिया। घर से निकलते ही उन्हें उल्टी हुई। एक बार फिर वह घर आए। मैंने यात्रा स्थगित कर देने को कहा किन्तु नहीं माने। बनारस जाते ही वह फैजाबाद शीला बहन के यहां चले गए। फैजाबाद से १५ दिसम्बर के पत्र में उन्होंने लिखा—

फैजाबाद,
१५ दिसम्बर, ८१

प्रिय राजेन्द्र,

आशीर्वाद

शिलांग से वाराणसी इस बार की यात्रा सुखद रही। रास्ते में किसी प्रकार की परेशानी नहीं हुई। हम लोग ८ दिसम्बर को साढ़े सात बजे शाम वाराणसी पहुंच आए। तुम्हारा तार हम लोगों से कुछ घंटे पहले पहुंच गया था इसलिए जयदेव सिंह आदि को थोड़ी परेशानी हुई। मैंने कुशल-क्षेम की सूचना तार द्वारा भेज दी थी। आशा है तार मिला होगा।

वाराणसी का समाचार अच्छा है। मीनू के नानाजी ठीक-ठाक हैं। जयदेव बाबू के यहां और औसानगंज में सभी लोग अच्छी तरह हैं। मैं गुलाब बाग भी

गया था। महेश की मां का स्वास्थ्य अब ठीक है। पुष्पा और बेबी भी स्वस्थ हैं।

मैं इस महीने के अन्त तक वाराणसी रहूंगा। उसके बाद बम्बई और भोपाल जाना है। आशा है तुम सब लोग स्वस्थ और प्रसन्न हो। मैं कल वाराणसी से यहां फैजाबाद आया। शीला, मुन्नी और रीतू स्वस्थ और प्रसन्न हैं। तुम्हारा दिया हुआ चादर उन लोगों को बहुत पसंद आया। इस हफ्ते के अंत तक मैं वाराणसी वापस जाऊंगा। प्रीतीजी, अनू और मीनू तथा विक्की को प्यार और प्रेमलता को आशीर्वाद।

आशा है श्री जे० पी० सिंहजी के यहां भी सब लोग स्वस्थ और प्रसन्न हैं। बच्चों को प्यार।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

जिन दिनों बाबूजी फैजाबाद गये थे उसी बीच नरेन्द्र बनारस इस आशा से पहुंचे कि उनसे भेंट हो जायेगी। बाबूजी से उनकी पिछली मुलाकात जुलाई में हुई थी जब वह चंडीगढ़ से वापस वाराणसी आये थे। वही उनकी अंतिम मुलाकात बन गई। यह टीस नरेन्द्र को तो आजीवन रहेगी ही बाबूजी को भी उनसे न मिल सकने का खेद था। २१ दिसम्बर के पत्र में उन्होंने लिखा—

वाराणसी,
२१ दिसम्बर, ८१

प्रिय राजेन्द्र,

आशीर्वाद

मैं फैजाबाद से कल लौटा। यहां मालूम हुआ कि नरेन्द्र दो दिन के लिए भोपाल से आये थे। उन्हें टैफे के काम से भुवनेश्वर जाना था, इसलिए वह अधिक दिन यहां रुक न सके।

यहां आने पर कल एक अप्रत्याशित समाचार यह मिला कि अरुण बी० एस-सी० की परीक्षा में पास नहीं, फेल हैं। उन्हें यहां जो मौखिक सूचना मिली थी, वह गलत निकली। गोरखपुर विश्वविद्यालय से जो लिखित सूचना मिली है, उसके अनुसार अरुण तीन विषयों में फेल हैं।

तुम लोगों का जनवरी में जैसा कार्यक्रम बने सूचित करना।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

जब उन्हें यह मालूम हुआ कि हम लोग जाड़ों में बनारस आ रहे हैं तो उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ। अनू और प्रीती को लिखे ३० दिसम्बर के पत्रों से उनकी

प्रसन्नता व्यक्त होती है—

वाराणसी,
३० दिसम्बर, ८१

प्रिय अनू,

आशीर्वाद

तुम्हारा २० दिसम्बर का पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम-लोग १० जनवरी को वाराणसी पहुंच रही हो। तुम्हारे नानाजी को भी प्रसन्नता हुई। अभी तक राजेन्द्र का कोई पत्र मुझे नहीं मिला। आशा है मेरे दोनों पत्र वहां मिले होंगे। एक पत्र मैंने फैजाबाद से लिखा था और दूसरा वहां से लौटने पर।

पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार मुझे कल बम्बई जाना था, लेकिन वाराणसी-बम्बई मार्ग पर एक ट्रेन-दुर्घटना के कारण गाड़ियों का आना-जाना बंद था। कल वह गाड़ी कैंसिल हो गयी और मुझे टिकट लौटाना पड़ा। अब तुम लोगों के यहां से जाने के चार-पांच दिन बाद बम्बई जाऊंगा। हम लोग १० जनवरी की शाम को तुम लोगों को ले आने के लिए मुगलसराय में मिलेंगे। आशा है तुम सब लोग स्वस्थ और प्रसन्न हो। प्रीती और मीनू को प्यार तथा प्रेमलता को आशीर्वाद।

शुभेच्छु—
राममूर्ति सिंह

Varanasi,
Dt. 30.12.81

Dear Preeti,

Thank you for your letter. I am glad to know that you all are coming here on the 10th of January. I was to go to Bombay, but I have now postponed it. I shall now go there after you have come here. I shall meet you at the Moghalsarai Railway Station. Your Nanaji will also receive you all there. It is good that you are learning Hindi. I am sure you all are fine over there. Shillong must be very cold.

If you meet Shipra, Babu and their sister baby, please convey my love to them. More when we meet. How is Wickie ? I hope he continues to back unnecessarily as before.

Yours affectionately,
—Babuji

हमेशा की तरह हम लोगों को वह मुगलसराय स्टेशन पर मिले। ट्रेन तीन घंटे लेट थी। अरुण व जय प्रकाश ड्राइवर के साथ उन्होंने तीन-चार घंटे प्लेट-फार्म पर घूम-घाम कर बिताये। बाहर बाबा भी गाड़ी में प्रतीक्षा कर रहे थे। हम लोगों को देखकर सभी लोग अत्यंत प्रसन्न हुए मानो उनके चार घंटे बेकार न गये हों। हम लोगों के साथ भाभीजी (श्रीमती जे० पी० सिंह) और बच्चे थे।

लगभग तीन सप्ताह उनके साथ हम लोग वाराणसी रहे। उनमें विचित्र परिवर्तन पाया। हम लोगों को कहीं जाने नहीं देते। शाम को मीनू, अरुण और मेरे साथ बरामदे में बैठकर ताश खेलते। २६ जनवरी को जयदेव भाई का पूरा परिवार अवसानगंज से बाबा व बच्चे और हम लोगों के साथ सारनाथ पिकनिक पर गये। पिकनिक के प्रस्ताव की उनकी स्वीकृति से हम लोगों को आश्चर्य भी हुआ और उससे अधिक प्रसन्नता। सारनाथ में भोजन बना। बाबा, जयदेव बाबू और मेरे साथ बैठकर ताश खेले। सबके साथ भोजन किया। सारनाथ बच्चों के झुण्ड में घूमे-फिरे और शाम को घर आये। उनके साथ हम लोगों की यह अंतिम पिकनिक थी। हम लोगों को बनारस छोड़कर वह २९ जनवरी को बम्बई चले गए। यह पहला अवसर था कि बाबूजी हम लोगों के बनारस रहते हुए कहीं गए हों। हम लोगों का कार्यक्रम २६ जनवरी को शिलांग आने का था किन्तु २६ जनवरी को आसाम बंद होने के कारण यात्रा ३० जनवरी के लिए स्थगित कर दी गई थी। यही थे वे तीन अंतिम सप्ताह जो हमने बाबूजी के साथ बिताये। कल्पना भी न थी कि यह अंतिम भेंट है। सोचता हूं कहीं कोई भूल न कर दी हो मैंने ?"

दस

वाराणसी से बम्बई के लिए प्रस्थान उन्हें रेलवे आरक्षण के कारण करना पड़ा। बच्चों को वाराणसी छोड़कर उन्हें जाना अच्छा नहीं लग रहा था। एक दिन पहले से ही बिस्तर और कपड़े संभालकर रख लिये। अकेले सफर से भी उन्हें अब घबड़ाहट होती थी। बम्बई में तीर्थराज, विद्या व बच्चे बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बम्बई पहुंचकर एक फरवरी को उन्होंने प्रीती को लिखा—

Bombay,
Ist Feb, 82.

Dear Preeti,

I reached here on the 30th afternoon. I am sure you all reached Shillong sometime yesterday. There is no winter and no cold here in Bombay. Pinkoo, Mamta, Renu and Sudha are

fine. After staying here for about a week or so, I shall go to Bhopal. Please write to me at Bhopal address. I shall be sending your books after sometime.

I hope you all are fine over there. Shillong must be still very cold. You must take care of your health and try to learn Hindi quickly.

Love to Anu and Meenu and Ashirvad to Prem Lata and Rajendra. Please convey my love to Shipra, Babu and Bonu.

Yours affectionately,
R. M. Singh

यही है उनका अंतिम पत्र, अंतिम आशीर्वाद, अंतिम कामना, जो इन बच्चों की धरोहर बन गया। विवेक व दीपू को भी ऐसा ही पत्र लिखा किन्तु उन्हें उनके बाबूजी नहीं मिले।

रविवार चौदह फरवरी को बम्बई में उनका निधन जिन परिस्थितियों में हुआ उन्हें अप्रत्याशित ही कहना चाहिए। विद्या, सुधा, रवीन्द्र नाथ चतुर्वेदी सभी के संस्मरण इस पर प्रकाश डालते हैं। यही उनका प्रथम और अंतिम हृदय का दौड़ा था। स्वेच्छा मृत्यु का बहाना अथवा स्वाभिमानी व्यक्ति की मर्यादा रखने का दैवी ढंग। कर्तव्यनिष्ठ, कर्मयोगी, जिसने सदैव दूसरों को सहारा दिया हो स्वयं आश्रित होकर नहीं रहना चाहा। बैठे-बैठे उसकी आत्मा परमात्मा में लीन हो गयी। या व्यक्ति समष्टि हो गया।

दुनिया पुत्र-प्राप्ति के लिए तरसती है। राममूर्ति को ईश्वर ने तीन योग्य पुत्र दिये। उसी ईश्वर ने इन तीनों को उनकी अंतिम यात्रा में शामिल होने से वंचित रखा। मुखाग्नि देना किसी के भाग्य में न था। राजेन्द्र को चौबीस घंटे बाद १५ फरवरी को शिलांग में, सुरेन्द्र को ११ दिन बाद २५ फरवरी को नाइजीरिया में और नरेन्द्र को आठ घंटे बाद भुवनेश्वर में पिता की मृत्यु का समाचार मिला। एक महीना देखा राजेन्द्र को वह स्वप्न याद आ गया जिसमें मृतक पिता को देखकर उनकी नींद खुल गई थी। स्वप्न पत्नी को बतलाया। निष्कर्ष निकला इस तरह के स्वप्न अच्छे होते हैं। मृतक व्यक्ति की आयु बढ़ती है। कितना हास्यास्पद निष्कर्ष था? प्रेमलताजी (राजेन्द्र की पत्नी) ने निधन से एक सप्ताह पूर्व स्वप्न देखा, "बनारस वाले मकान के उस कमरे से, जिसमें बाबूजी रहते हैं, उनका सामान चोरी हो गया। दरवाजा खुला है और मैं सड़क की ओर शोर करती आपको पुकार रही हूं।" राजेन्द्रजी ने अर्थ लगाया, "सम्भव है बम्बई जाते समय बाबूजी का सामान ट्रेन से गायब हो गया हो।"

एकदम गलत व्याख्या, गलत निष्कर्ष। बनारस के मकान से चोरी अवश्य हुई किन्तु सामान नहीं स्वयं उसका मालिक चुरा लिया गया, ठीक एक सप्ताह बाद। सच है मृत्यु सब पर डाका डालती है। कोई उससे बच नहीं सका। घर-बार, सर-सामान, बाल-बच्चे, सब छूट जाते हैं—केवल व्यक्ति उठ जाता है। ईश्वर का बनाया चोरी का यह विधान विचित्र किन्तु सत्य है। चिर सत्य।

ग्यारह

अनू की परीक्षा को ध्यान में रखकर शिलांग से १९८१ के शीतकाल में बनारस न जाने का विचार राजेन्द्र का रहा होगा किन्तु घटना-चक्र कुछ ऐसा घूमा कि जिस दिन से अनू की परीक्षा की तैयारी के लिए स्कूल से दो सप्ताह की छुट्टी मिली उसी दिन उन्हें पिता के निधन का समाचार। अनू और मीनू को श्री जे० पी० सिंह के यहां छोड़कर वह पत्नी और प्रीती को लेकर दूसरी बार बनारस गये। उधर नरेन्द्र भुवनेश्वर में किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये। किसी भी दशा में दाह-संस्कार के लिए नहीं पहुंच सकते थे। उसी दिन वह भोपाल से भुवनेश्वर आये थे। अगले दिन भुवनेश्वर से कोई फ्लाइट नहीं थी। बनारस अरुण को तार दिया कि परसों अमुक फ्लाइट पर बाबतपुर में मिलो। अर्थ निकाला गया कि वह अर्थी लेकर आ रहे हैं। सगे-संबंधी, टोला-मुहल्ला अर्थी की प्रतीक्षा करने लगा। कई लोग बाबतपुर गये। किंतु ऐसा नहीं था। दाह-संस्कार तो बंबई में उसी दिन हो गया था जब यह पता चल गया कि नरेन्द्र अगले दो दिन तक बंबई किसी सूरत से नहीं पहुंच सकते। अब तो वह भुवनेश्वर से बंबई फूल लेने जा रहे थे। चार दिन बाद फूल लेकर वह सपरिवार बनारस आये। रास्ते में विद्या की तबीयत खराब हो गई और बारह घंटे जबलपुर के अस्पताल में उन्हें रखना पड़ा। विद्या ही राममूर्ति की एकमात्र संतान है जो मां और बाप दोनों के अंतिम क्षण में साथ थी। उन्हें भारी मानसिक आघात लगा था। वैसे भी पिता का सर्वाधिक स्नेह उन्हें प्राप्त था। उनकी स्थिति ठीक नहीं थी। वस्तुतः उन्हें अस्पताल में रखना ही उचित था। फूलों का कलश उसी कमरे में रखा गया जिसमें वह रहा करते थे। जिन लोगों ने दो सप्ताह पहले बंबई जाते समय उन्हें विदाई दी थी, उन्हें मृत्यु के समाचार पर विश्वास नहीं हो रहा था। फूल-कलश को देखकर उन्हें बरबस विश्वास करना पड़ा। उनकी अश्रुधारा नहीं रुक सकी। उसी दिन मणि-कर्णिका घाट वाराणसी और त्रिवेणी संगम प्रयाग में पुष्प-विसर्जन कर दिया गया। बनारस के उनके निकट संबंधी और मित्र सम्मिलित हुए। सुरेन्द्र अभी तक नहीं आ सके थे। उन्हें देर से पता चला। बोधीपट्टी में दसवां और तेरहवीं का क्रिया-कलाप विधि-विधान से हुआ। ऐसा कर्म जिसमें राममूर्ति की आस्था संदिग्ध थी।

दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, फैजाबाद और अन्य स्थान से इष्ट-मित्र, सगे-संबंधी बोधीपट्टी आये। शोक-सभा का आयोजन हुआ। भाव-भीनी श्रद्धांजलियां दी गईं। वक्ताओं में सर्वश्री रामपाल सिंह, केशवदेव चौबे, त्रिपाठीजी, वीरेन्द्रबहादुर सिंह, रामनयन सिंह, हृदय नारायण सिंह, भानुप्रताप सिंह, विश्वनाथ सिंह, तीर्थराज सिंह, डॉ० महेश विक्रम, राजेन्द्र और नरेन्द्र थे। अधिकांश लोग ऐसे थे जिनके कंठ अवरुद्ध हो गये थे। जिन्होंने मौन श्रद्धांजलि दी। गरीबों को धोतियां बांटी गईं। यह परंपरा स्वयं राममूर्ति पत्नी की मृत्यु के बाद वर्षों तक चलाते रहे और गरीब स्त्रियों को धोती देते थे। उनकी स्मृति में दो शील्ड, छात्रवृत्ति और पुस्तकालय के लिए एक हजार पुस्तक दान की घोषणा दूसरे दिन पटेल स्मारक स्कूल अतरौलिया में आयोजित शोक-सभा में की गई। इस स्कूल से उनका संबंध आरंभ से रहा। उनके सम्मानार्थ स्कूल एक दिन के लिए बंद रहा। बोधीपट्टी में श्री राममंदिर की स्थापना का निर्णय लिया गया। जिस मिट्टी ने राममूर्ति को जन्म दिया उसे और भी पुनीत और उज्ज्वल बनाने हेतु उपरोक्त घोषणाएं इसी आशय से की गईं।

किन्तु कहीं कोई चूक हो गई थी। कुछ करने को रह गया। क्रिया-कर्म से निवृत्त होकर जब बच्चों ने दिवंगत पिता का ट्रंक खोला तो उसके तल में पाया एक पोटली। पोटली खोलने पर मिली वह सादी सूती साड़ी जिसे प्राप्त करने के लिए राजेन्द्र को घंटों लाइन में खड़ा रहना पड़ा था। स्वतंत्रता के बाद सन् १९४८-४९ में वस्त्र और नमक का अकाल-सा पड़ गया था। कंट्रोल की दुकान से एक आदमी को एक बार में केवल एक धोती मिलती थी। तीन घंटे बाद राजेन्द्र जब धोती लेकर घर लौटे तो कितनी प्रसन्न होकर उनकी मां ने कहा था, "मेरे बेटे के हाथों की पहली धोती।" पहली क्यों? अंतिम भी तो। धोती के अतिरिक्त हरे रंग का एक ऊनी ब्लाउज था जिसकी साइज उनके कृशकाय अस्वस्थ शरीर की याद दिलाता था। उसी में एक सुरमादानी, कांच की हरी-हरी चूड़ियां और छोटी-सी डायरी थी जिनमें राममूर्ति ने पत्नी के मृत्यु की परिस्थितियों का विवरण लिखा था। इन वस्तुओं को देख सभी नतमस्तक हो गये। तीस वर्ष तक संभालकर रखी हुई एक गरीब की धोती। उसके यादों की धरोहर। वियोगी पति की पत्नी की स्मारिका स्वरूप वह पोटली बिना बोले, बहुत कुछ कह गई जिसे उपस्थित सभी व्यक्तियों ने सुना किन्तु जिसकी अभिव्यक्ति साधारण कलम से संभव नहीं है। अस्थियों के साथ त्रिवेणी में इस पोटली का विसर्जन न करके उनसे भूल हो गई थी। शायद यही मंशा रही हो उनके स्वर्गीय पिता की या फिर मरणोपरांत बच्चों को अच्छा गृहस्थ बनने की सीख देना चाहते थे। अथवा संकट के उन दिनों की याद दिलाकर यह बताना चाहते थे कि मनुष्य को अपने बुरे दिन भूल नहीं जाना चाहिए। अच्छे और बुरे दिन आदमी के वश के नहीं, ईश्वर

के हाथों का खेल है। समय की आंख-मिचौनी।

जनम मरन दुख सुख सब भोगा।
हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा।।
काल करम बस होंहि गोसाईं।
बरबस रात दिवस की नाईं।।

।। अस्तु ।।

स्मृतियां

संसार क्षणभंगुर है—यह सत्य है क्योंकि एक क्षण में ही वर्तमान भूत बन जाता है और शेष रह जाती हैं स्मृतियां जो कालचक्र के साथ-साथ मिटती जाती हैं। राष्ट्र, समाज और परिवार को कभी-कभी ऐसी विभूतियां मिलती हैं जिनकी स्मृतियां कालचक्र की गति को मानो मध्यम कर युगों तक जनमानस के हृदय में जागृत रहकर उन्हें कालजयी बना देती हैं। परंतु ऐसे अवसर सदियों के बाद ही आते हैं।

ऐसे ही युग-पुरुष स्वर्गीय बाबूजी थे जिनकी स्मृतियां चिरकाल तक उनके परिवार, समाज और उनके संपर्क में आए प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा जीवन में शक्तिपूर्ण प्रेरणा प्रदान करती रहेंगी। इसी दृष्टिकोण से मैं बाबूजी की स्मृतियों को लेख में समेटने का प्रयास उन्हीं की प्रेरणा से कर रहा हूं।

सुना है बालकाल में ही परिवार और गांव में अपने बाललीला एवं प्रखर बुद्धि के कारण सभी के चहेते बने। एक छोटे से जमींदार के आंगन से किस प्रकार उन्होंने स्कूल से कॉलेज और कॉलेज से विश्वविद्यालय तक नये-नये कीर्तिमान बनाए वह अपने आपमें एक इतिहास है। व्यक्तिगत जीवन में बाबूजी के दृष्टिकोण का अंदाज उनके साथ १६५५-५६ की सर्दी की एक संध्या की वार्ता से लगता है जो उन्होंने परिवार के सदस्यों के सामने दिल्ली में कुछ इस प्रकार की—

"मेरा जन्म एक ऐसे रूढ़िवादी परिवार में हुआ जहां पढ़ाई करना, फिर नौकरी तलाशना घर की कमजोरी जाहिर करना था। फिर भी ईश्वर की इच्छा में ऊंट-गाड़ी में अतरौलिया से शाम को चलकर सुबह आजमगढ़ पहुंचा करता था। रात-भर में २४ मील का सफर। पढ़ाई-लिखाई के बाद प्रश्न नौकरी का था। अधिक उम्र हो जाने से सरकारी नौकरी का प्रश्न उठता ही नहीं था। मेरे सहपाठी कुरी सुदोली के राजा कृष्णपाल सिंह के बताने पर लखनऊ में नेशनल इण्टर कॉलेज में मैं अध्यापक बना। कांग्रेसियों की संस्था थी—आजादी तभी मिली थी। राष्ट्रीय पर्व, स्वतंत्रता सेनानियों की जन्म एवं पुण्यतिथियां बड़े जोश से स्कूल में मनाया जाता था जिसमें मुझे अवश्य बोलना पड़ता था। ऐसे ही किसी अवसर पर उपस्थित शास्त्रीजी—लालबहादुरजी मेरे व्याख्यान को

सुनकर प्रभावित हुए और प्रिंसिपल से वह कहकर मुझे अपने काम में हाथ बंटाने के लिए सुबह-शाम बुलाने लगे। १०-१५ दिन बाद शास्त्रीजी ने कहा—"भाई ऐसे काम नहीं चलेगा। आप तो बहुत परेशानी उठा रहे हैं—स्कूल छोड़कर पूरे समय के लिए मेरे पास आ जाएं तो बड़ा अच्छा हो।" मैं स्कूल छोड़कर उन्हीं के साथ काम करने लगा।

"घर में तुम्हारी मां की तबीयत दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी। इधर तुम लोग बड़े होने लगे। पढ़ाई और विवाह जैसे खर्चे सामने आने लगे। घर से भैया (बाबूजी के पिताजी) की वजह से भी परेशानियां बढ़ने लगीं। मैं उनके विचारों से सहमत नहीं हो पाया। कोर्ट-कचहरी से मुझे सख्त नफरत होती है। गांव की झूठी प्रतिष्ठा में मैं पैसे खर्च करना व्यर्थ समझता था, जिसमें भैया पूरी दिलचस्पी रखते थे। मेरे सामने दो ही रास्ते थे—एक तो मैं भैया की हर इच्छा पूरी करता चलता तब तो जाहिर है कि तुम लोगों की तरफ ध्यान न दे पाता या फिर तुम लोगों और घर की बीमारी (हमारी मां की बीमारी) की ओर देखता।"

वास्तव में बाबूजी जहां भगवान श्रीकृष्ण जैसे कर्मयोगी सिद्ध हुए वहीं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जैसे उन्होंने पत्नी, पुत्र-पुत्रियों, संबंधियों एवं मित्रों से विभिन्न परिस्थितियों में आदर्श और समुचित व्यवहार करके महान् अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किए।

बाबूजी जितने ही विचारों में सुलझे थे उतनी ही प्रबल थी उनकी लेखनी। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब उनकी उम्र अनुमानतः ३२-३३ वर्ष की रही होगी—बाबूजी की लेखनी ने संसार को तीन पुष्प भेंट किए। उन्होंने महात्मागांधी के सन्देश को अपनी पुस्तक 'महात्मागांधी और विश्व शान्ति' के रूप में प्रस्तुत किया। नवोदित राष्ट्र को उन्होंने 'हमारे पड़ोसी राष्ट्र' नामक पुस्तक दी। स्वतंत्र देश का बच्चा अच्छा नागरिक बने और अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को अच्छी तरह समझे इसके लिए उन्होंने 'नागरिक शास्त्र' के तीन भाग भेंट किए। बाद में रेलवे मन्त्रालय और प्रशासन में हिन्दी के दिन-प्रतिदिन काम में आने वाले शब्दों को उन्होंने वर्षों के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप शब्दकोश का रूप दिया, जिसके तृतीय संस्करण लिखने के बीच ही उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

बाबूजी अत्यन्त साहसी, निडर और सत्य-पुरुष थे। मां की बीमारी से लेकर और अन्तिम क्षण तक उन्होंने जिस अदम्य साहस का परिचय दिया वह मनुष्य के लिए सहज ही सम्भव नहीं। हृदय से जितना ही वे दृढ़ दिखते थे अन्दर से वे उतने ही कोमल। किसी की तकलीफ को देखकर वे बेचैन हो जाते थे जब तक कि स्थिति सुधर न जाती थी। छोटे बच्चों से बेहद प्यार था। घर में किसी की तबीयत खराब होने पर बाबूजी रात में तीन-चार बार उठकर खोज-खबर लेते

थे। कई बार स्वयं रात-रात भर बच्चे को कन्धे पर लेकर घूमते थे। बड़ी से बड़ी कठिनाई को उन्होंने साहस से स्वयं झेला और अपने से छोटे के लिए हमेशा उदाहरण रखे। मां के देहान्त के बाद उन्हें किसी ने अश्रु बहाते नहीं देखा। अपने (उनके स्वयं के) ऑपरेशन में जो डॉक्टरों की राय में खतरनाक सिद्ध हो सकता था किसी को घबड़ाने नहीं दिया। अपने अनुज से जो ऑपरेशन-कक्ष ले जानेवाली लिफ्ट के सामने भीगी आंखों से बाबूजी को देख रहे थे, मुस्कराते हुए कहा, "शीतला, तुम क्यों घबड़ा रहे हो भाई—ऑपरेशन तो मेरा है—मुझे घबड़ाना चाहिए।" उनके अदम्य साहस का परिचय अन्तिम घड़ी के कुछ समय पूर्व बम्बई के उन डॉक्टरों को भी मिला जिन्हें उन्होंने अपनी तबीयत के कारण विद्या बहन और बच्चों के घबड़ाने का जिक्र तो किया किन्तु अपना नहीं।

बाबूजी महात्मागांधी के सच्चे अनुयायी थे। सूती-ऊनी खादी के वस्त्र ही सदा धारण करते थे—विचारों से सरल और सीधे व्यक्ति थे। गांधीजी की तरह उनमें काम करने की जिद्द थी। नियम और अनुशासनबद्ध वे स्वयं अपने सभी काम करते थे। उनके प्रिय भजन···'वैष्णव जन तो तेने कहिए' और 'दुख हरो द्वारिकानाथ शरण मैं तेरी' थे। छोटे बच्चों की मुस्कान में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था और उनके साथ फोटो खिचवाने की भरपूर इच्छा रखते थे। उन्हें शिक्षा भी उन्हीं की भाषा में देते थे। विवेक, वीनू और दीपू प्लेट से नीचे खाने की चीजें गिराने के आदी हो गए थे। एक दिन बाबूजी ने साथ खाते हुए ऐसे नुकसान को देखा···तो बच्चों से बोले, "तुम लोगों को यह कविता मालूम है या नहीं—"काम का न काज का, दुश्मन अनाज का" फिर हंसते हुए व्यंग्य के रूप में बोले, "झण्डा ऊंचा रहे हमारा" कविता तो समझे और हंसे भी किन्तु उनके इशारे को न समझे। पुनः उन्होंने कहा कि "आज शाम को झण्डा खरीदकर तुम लोगों के हाथ में दे दूंगा और तब झण्डा ऊंचा करके मैं बोलूंगा—काम का न काज का और तुम लोग बाद में बोलना दुश्मन अनाज का"—इसके साथ ही खाने की मेज की ओर बच्चों का ध्यान कराते हुए बोले—"तुम लोग सच में अनाज के दुश्मन हो।" इस पर बच्चे सब समझ गये और मन-ही-मन दृढ़ संकल्प किए और उसी दिन से आज तक फिर प्लेट से खाने की चीजें नहीं गिराते और यदि गिर भी जाए तो एक-दूसरे से कहता है 'काम का न काज का' तो दूसरा गिराने वाली की तरफ उंगली उठाकर कहता है, 'दुश्मन अनाज का' और तीसरा फिर महसूस करता है कि उसे ऐसा नहीं होने देना चाहिए था।

उनके शिक्षात्मक ढंग अपने ही थे—अपने एक संबंधी, जो नौकरी की तलाश में दिल्ली आये थे, एक बड़ी गन्दी आदत के शिकार थे। अखबार-मैगजीन सब पर वे अपना नाम लिखकर करीब-करीब गन्दा कर देते थे। बाबूजी ने उनकी इस आदत को बिना कुछ कहे हमेशा के लिए छुड़ा दिया। उन्होंने केवल उनके नामों

के नीचे वल्दियत स्वरूप उनके पिताजी का नाम जगह-जगह लिख दिया। वे बहुत लज्जित हुए मगर उस आदत से उन्हें छुटकारा मिल गया। ऐसी बहुत-सी स्मृतियां स्मृति-पटल पर आ रही हैं जिन सबका वर्णन इस सन्दर्भ में करना सम्भव नहीं किन्तु एक विशेष अवसर याद आ रहा है और वह क्षण जो शायद ही मेरे सिवाय परिवार के अन्य सदस्य या रिश्तेदार ने देखा—और वही एक मौका था जब मैंने बाबूजी को बहुत कमजोर और भावुक देखा। यह बात इरविन अस्पताल में ऑपरेशन के बाद उस दोपहर की है, जब मैं खाना लेकर गया था। अन्य दिनों के विपरीत मैंने उस दिन बाबूजी को बहुत थका-सा और गम्भीर मुद्रा में देखा मानो बहुत ऊब-से गये हों। मुझसे बहुत मलिन शब्दों में बोले, "नरेन्दर, डॉक्टर साहब को बुलाओ।" डॉक्टर संयोग से तुरन्त मिल गये और बाबूजी के नाम से बिना विलम्ब किए तुरन्त आये। बाबूजी लगभग डेढ़ महीने से उस वार्ड में थे जहां उन्होंने अपने भाई-चारे और भद्र व्यवहार से डॉक्टरों, नर्सों से ही नहीं बल्कि वार्ड के प्रत्येक मरीज और उनके मिलने आने वालों के दिलों को जीत चुके थे और सभी उन्हें श्रद्धा से बाबूजी कहकर पुकारते थे। अत: डॉक्टर ने आते ही पूछा, "कहिए बाबूजी, आपने मुझे याद किया?" बाबूजी ने कहा, "हां डॉक्टर साहब! देखिए न, ऑपरेशन का घाव ठीक नहीं हो रहा है।" और इतना कहते ही बाबूजी एक बच्चे की तरह फूट-फूटकर बिना कुछ कहे रोने लगे। डॉक्टर घबराए भी और आश्चर्यचकित भी हुए। उन्होंने अपने को संभालते हुए कहा कि "बाबूजी, आज आपने कमाल कर दिया—आपके धैर्य और व्यवहार को पूरा वार्ड आदर्श मानता है—आप सबको धैर्य देते हैं मगर यह क्या—आज आप स्वयं धैर्य खो बैठे? आप तो अब बिलकुल ठीक हैं। पूरा हाथी निकल गया लेकिन अब तो सिर्फ एक-दो दिन की पूंछ बाकी है।" बाबूजी शीघ्र ही सन्तुलित हुए और धीरे-धीरे भोजन करते समय मुझसे बोले, "अब जी ऊब गया यहां से।" मैं भी घबड़ाकर तुरन्त घर आया। बड़े भैया, छोटे काका के साथ मैं डॉक्टर श्रीवास्तव को लेकर बाबूजी के पास पहुंचा और संयोग से डॉक्टर नायर—बड़े डॉक्टर जिन्होंने ऑपरेशन किया था, वहां आ गये। सभी ने कहा—बाबूजी, सिर्फ एक-दो दिन की बात है। अब सब ठीक हो गया। लेकिन हम सभी अवाक् उस समय हो गये जब उस चट्टान जैसे दृढ़ महामानव ने अपनी अश्रु-लड़ियों का कारण बताया। बाबूजी ने कहा, "डॉक्टर साहब, मेरे रोने का कारण यहां की किसी बात से नहीं है—मुझे अपने जीवन के उन दिनों की याद आई जब इन बच्चों की मां को बहुत बड़ी बीमारी (कैंसर) से मैं अकेला कितना और कैसे दौड़कर भी न बचा सका। आज मेरी इस जरा-सी तकलीफ के लिए मेरे परिवार के सभी सदस्य कितने दिनों से दौड़ रहे हैं। आप लोग परेशान न हों।" सम्भवत: भावनाओं का वह ज्वालामुखी फट गया था जिसे वर्षों से वे अपने अन्दर समाये हुए थे। दो दिन बाद ही बाबूजी को छुट्टी मिली

तो वार्ड के लगभग सभी मरीज, डॉक्टर, नर्स सब उदास थे और उनके प्यार से वंचित हो जाने की पीड़ा सहन करते हुए ईश्वर से उनकी दीर्घायु की प्रार्थना कर रहे थे। ऐसा था बाबूजी का समाज में रसूक। यही वजह थी कि बाबूजी की बातों की, सुझावों की हर व्यक्ति—रिश्तेदार-पड़ोसी-गांव घर के सदस्य—सभी को बड़े विश्वास और बेसब्री से प्रतीक्षा रहती थी। उनके मोक्ष के पश्चात् उन्हीं के निकटतम सम्बन्धी मेरे स्वसुर श्री जगदीश सिंहजी ने एक पत्र के अन्त में अश्रु-रंजित अक्षरों में लिखा—

"बड़े प्यार से सुन रहा था जमाना।
तुम्हीं सो गए दासतां कहते-कहते॥"

सच में बाबूजी की जीवन-लीला इस प्रकार से समाप्त हुई मानो कहानी सुननेवाले उत्सुकतापूर्वक जाग रहे हों और बीच में कहानीकार को ही नींद आ गई हो। हंसते-हंसते क्षण-भर में 'हरे राम हरे राम' शब्द रूपी विमान पर सवार होकर इस संसार से परे आदि-शक्ति में मिल गए जिसने यहां अवतरित किया और उनके चाहने वाले स्तब्ध हो गए। मानो कबीर का यह दोहा पुनः साकार हुआ—

"कबिरा जब हम पैदा हुए, जग हंसे हम रोए।
ऐसी करनी कर चलो, हम हंसे जग रोए॥"

धन्य हैं ऐसी महान् आत्माएं जो समय-समय पर अवतरित होकर मानव-कल्याण के सन्देश दे जाया करती हैं। ऐसी आत्माओं को श्रद्धांजलि देना भी मुश्किल है। एक पुत्र का अपने पिता को पूजन फूल ही नहीं अपितु एक महामानव, युगपुरुष को शत-शत प्रणाम एवं नमन है।

□ नरेन्द्र

कर्मठता के प्रतीक—स्व० ठाकुर राममूर्ति सिंह

लगभग २५ वर्ष पहले की बात है।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के तत्कालीन सहायक सचिव स्व० श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री ने मुझसे कहा, "चलो तुम्हें रेल मंत्रालय (रेलवे बोर्ड) के एक बड़े अफसर से मिला लाऊं।" उन दिनों मैं उत्तर रेलवे के इलाहाबाद मण्डल में कॉमशियल क्लर्क (मालबाबू) था और इलाहाबाद स्थित उत्तर रेलवे के माल-गोदाम में ही नियुक्त था। कहां रेलवे का एक क्लर्क और कहां रेल-मंत्रालय का अधिकारी। उनसे मिलने की बात से मुझ पर एक संकोच की और विस्मयमिश्रित प्रतिक्रिया देखकर शास्त्रीजी ने कहा, "संकोच की कोई बात नहीं, वह मेरे बड़े अच्छे मित्र और पड़ोसी हैं। शाहगंज से थोड़ी ही दूर

अतरौलिया के पास के रहने वाले हैं। आजमगढ़ जिले के निवासी हैं, चलो तुम्हारा उद्धार करा दूं।"

स्व० रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री मेरे पड़ोसी गांव अढ़नपुर के निवासी और मेरे संबंधी भी थे। उन्हें मेरे पिताजी ने मिडल स्लकू में पढ़ाया था। उनका गुरु-भाई और सम्बन्धी होने के अतिरिक्त बचपन से ही साहित्यिक प्रवृत्ति का होने के कारण वह मुझे अनुज-तुल्य स्नेह करते थे। और मैं भी उन्हें अग्रज-तुल्य सम्मान देता था। हमारा यह संबंध इस गहराई तक था कि हमारे दूर के रिश्तेदारों को भी यह भ्रम बना रहता था कि हम दोनों सगे भाई हैं। विधि का विधान यह कि हम दोनों अपने-अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे, दोनों को तीन-तीन बहनें थीं और हम दोनों की माताओं का हमारे बचपन में स्वर्गवास हो चुका था।

रामप्रताप भइया को सचमुच मेरे उद्धार की चिन्ता थी। मेरे परिवार का मुख्य पेशा अध्यापन था। परिवार का मैं पहला और अकेला व्यक्ति था जिसने रेलवे में नौकरी की थी। यह नौकरी उन्होंने ही मुझे आग्रहपूर्वक दिलायी थी। मैंने ९ सितम्बर, सन् १९४४ में नौकरी शुरू की तो मैं केवल हाई स्कूल और विशारद पास था। सेवारत होकर भी अपनी पढ़ाई जारी करके मैंने १९५२ में हिन्दी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। अपनी पैतृक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्ति के कारण एम० ए० करने के बाद से ही मैं रेल सेवा से पलायन करके, अध्यापन करने के लिए आकुल हो उठा। भइया को मेरी इस आकुलता का पता था। वह मेरे उद्धार के लिए किसी उपयुक्त अवसर की तलाश में थे और वह अवसर अब आ गया था।

अपने उद्धार का एक सुनहला अवसर मैं १९५३ में एम० ए० करने के तत्काल बाद खो चुका था। स्व० लालबहादुरजी शास्त्री उन दिनों भारत सरकार के रेलमंत्री थे। उनके बचपन के साथी, इलाहाबाद जिले के ही निवासी श्री पुरुषोत्तम तिवारी जो गत वर्ष दिवंगत हो गये, रामप्रताप भइया का पत्र लेकर मेरे पास आए। तब मैं कानपुर में था। तिवारीजी एक सप्ताह मेरे अतिथि रहे। पर जाते समय मेरे स्वागत-सत्कार से सन्तुष्ट होकर उन्होंने कहा, "आपके रेल-मंत्री, शास्त्रीजी मेरे मित्र हैं। बोलिए, आपके लिए उनसे क्या कहूं।" मैंने सहज संकोच से कहा, "वह रेलमंत्री हैं और मैं एक मामूली क्लर्क ! उनसे अपने लिए क्या कहने को कहूं।" बेचारे तिवारीजी कुछ अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। शास्त्रीजी के संसर्ग और सहयोग से उन्होंने हड़िया जिला इलाहाबाद में इंजीनियरिंग कॉलेज एवं आयुर्वेदीय विश्वविद्यालय की स्थापना की। किंतु दिशा-दृष्टि के अभाव में वह रेलमंत्री शास्त्रीजी से मेरे लिए कुछ न कह सके। बाद में रेल मंत्रालय में जाने पर मुझे ज्ञात हुआ कि यदि सन् १९५३ में शास्त्रीजी को मेरे बारे में बताया गया होता तो वहां मैं हिन्दी अधिकारी पद पर बहुत पहले हो गया होता। यह

सचमुच एक सुनहला अवसर था जो मैं चूक गया था। इस बार जब रेल मंत्रालय के एक उच्च अधिकारी से मिलने की बात हुई और यह भी बतलाया गया कि वह रामप्रताप भइया के मित्र और पड़ोसी भी हैं तो मैंने यह अवसर खोना उचित न समझा।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है। इलाहाबाद स्टेशन के समीप रेलवे के अधिकारी विश्रामगृह में जब मैं रामप्रताप भइया के साथ पहुंचा तो मेरे मन पर एक उच्च अधिकारी से मिलने का आतंक छाया था। किन्तु थोड़ी ही देर बार जब हम एक स्वस्थ एवं अच्छे डील-डौल वाले अधिकारी के समक्ष उपस्थित हुए तो मुझे वह सज्जन एक अधिकारी से कहीं अधिक आत्मीय लगे। कुछ ही क्षण में उनके हंस-मुख एवं मधुर व्यवहार से मेरे मन का संकोच और भ्रम विलुप्त हो गया। कुशल-क्षेम के पश्चात् जब भइया ने उक्त अधिकारी महोदय से मेरा परिचय देते हुए मेरी साहित्यिक अभिरुचि की चर्चा की तो उनके मुख से तत्काल जो शब्द निकले वे मुझे आज भी ज्यों-के-त्यों स्मरण हैं। उन्होंने बड़ी ही आत्मीयतापूर्वक कहा था—"देखिए, हो सका तो हम बड़ी जल्दी इन्हें अपने यहां ले लेंगे। हमारे यहां का वातावरण बड़ा ही साहित्यिक है। वहां इनका मन लग जाएगा।" और कहना न होगा कुछ ही महीनों बाद, एक लिखित परीक्षा और साक्षात्कार में सफल घोषित होने के फलस्वरूप मैं रेलमंत्रालय (रेलवे बोर्ड) में १७, जनवरी १९५७ को हिंदी सहायक पद पर नियुक्त हो गया। यह संघ लोक सेवा आयोग के माध्यम से भरा जाने वाला केन्द्रीय सचिवालय का एक आकर्षक पद था जो मुझे उक्त अधिकारी महोदय की कृपा से सहज ही प्राप्त हो गया था। अपने मन के सर्वथा मनोनुकूल इस पद पर पहुंचकर मैंने मालबाबू के अपने पूर्व पद पर दृष्टि निक्षेप किया तो मुझे लगा सचमुच मेरा उद्धार हो गया है।

अधिकारी-विश्राम-गृह से लौटते समय जब मैंने भइया से उक्त अधिकारी महोदय के स्वभाव और व्यवहार की प्रशंसा की तो भइया ने बतलाया कि उनका नाम ठा० श्री राममूर्ति सिंह है। वह रेल मंत्रालय में हिन्दी विभाग के सर्व-सर्वा हैं। रेल मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री उन्हें बहुत मानते हैं। अत्यल्प काल की भेंट में ही उनके आत्मीयता एवं सहृदयतापूर्ण व्यवहार की जो छाप मेरे मानस-पटल पर पड़ी उससे मैं यह सोचकर मन-ही-मन पुलकित हो रहा था कि ऐसे उदार और सज्जन अधिकारी के अधीन काम करने का सौभाग्य शीघ्र मिलने वाला है। चौदह वर्ष वनवासी होने के बाद भगवान राम को अयोध्या लौटकर राजा बनने की कल्पना उतनी सुखद नहीं लगी होगी जितनी चौदह वर्ष विभिन्न और विचित्र व्यक्तियों के बीच मालबाबू के अरुचिकर जीवन के बाद दिल्ली पहुंचकर रेल मंत्रालय में उन जैसे सज्जन के साथ काम करने की कल्पना मुझे सुखद लग रही थी।

ठाकुर साहब की कृपा से केवल मेरा ही उद्धार नहीं हुआ था भारतीय रेलों के विभिन्न कार्यालयों में ऐसे बहुत से रेल-कर्मचारी थे जो वरिष्ठ और अनुभवी रेलकर्मी होने के साथ-साथ हिन्दी में एम०ए०, साहित्यरत्न जैसी उच्च उपाधियों से विभूषित थे और जिनमें लिखने-पढ़ने की पर्याप्त प्रतिभा एवं अभिरुचि थी। किन्तु रेल के चक्कों के साथ-साथ उनकी प्रतिभा में भी जंग लग रहा था। साधारण रेलकर्मियों से भिन्न प्रवृत्ति एवं रुचि रखने वाले ये रेलकर्मी भी मेरी तरह ही विभिन्न अरुचिकर पदों पर चिपके अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। ठाकुर राममूर्ति सिंहजी ने हिन्दी सहायक की प्रतियोगी परीक्षा में बैठने का अवसर देकर उनमें से बहुतों का उद्धार किया।

भारतीय रेलों के विभिन्न कार्यालयों से आये उक्त अनुभवी और प्रतिभावान रेल कर्मचारियों के हिन्दी सहायक पद पर पहुंचने का सुपरिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी में रेलवे की नियम पुस्तिकाओं, संहिताओं आदि के अनुवाद में स्वाभाविक सरल और सुबोध शब्दावली का सफल प्रयोग होने में आशातीत सफलता मिली। कहना न होगा, बाद में चलकर ठाकुर साहब के रेलवे बोर्ड से सेवा-निवृत्त होने के पश्चात्, रेलवे बोर्ड के कर्मचारियों के अभ्यावेदन के फलस्वरूप, रेलों के विभिन्न कार्यालयों से भरती की यह प्रणाली समाप्त कर दी गयी और बोर्ड के लिपिक वर्ग से जिन्हें रेलवे का कोई व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता, पदोन्नति द्वारा भरती की जाने लगी। फल यह हुआ कि इस प्रकार पदोन्नत होकर आने वाले अनुभव-हीन हिन्दी सहायकों द्वारा 'लाइट इंजन' का अनुवाद 'खलिया इंजन' की जगह 'प्रकाश इंजन' किए जाने जैसे भौंड़े उदाहरण सामने आने लगे।

विभिन्न रेलों से चुने गए हिन्दी सहायकों का पहला दल जनवरी के आस-पास दिल्ली पहुंचा। यह समय रेल मंत्रालय (रेलवे बोर्ड) के लिए बजट की तैयारी का अति व्यस्त काल होता है। भारत सरकार की यह परिपाटी रही है कि रेल मंत्रालय का बजट वित्त मंत्रालय के आम बजट से अलग होता है, और संसद में आम बजट से पहले पेश किया जाता है। अतः हम रेलकर्मी जब हिन्दी सहायक बनकर दिल्ली पहुंचे तो हमें तीन चीजों की भयंकरता का एक साथ सामना करना पड़ा—खाने और रहने की व्यवस्था, मौसम अर्थात् दिल्ली की तूफानी सर्दी और दिन-रात अनवरत काम। दिल्ली में आवास की समस्या सदैव विकट रही। लोग मजाक में कहा करते हैं कि दिल्ली में बीवी मिलना आसान है मगर मकान मिलना कठिन। भोजन की व्यवस्था और ढंग भी यहां अलग-अलग है। रोटी-सब्जी और रोटी-छोले एवं (काबुली चने की लटपटी घुंघनी जैसी चीज) रोटी-दाल और प्याज यह दिल्ली के कामगरों से लेकर बाबू लोगों तक की आम खूराक है। अन्य प्रांतों से आए व्यक्तियों को रोटी के इस साम्राज्य में चावल का नगण्य अथवा अति स्वल्प प्रवेश कष्टकारक होना स्वाभाविक है। दिल्ली का

व्यवस्था की कि मुझे और जायसवालजी को ही नहीं, वरिष्ठता क्रम से कई व्यक्तियों को रोक लिया गया और कुछ वर्षों में ही पेनल का अन्तिम व्यक्ति भी स्थायी कर दिया गया।

ठाकुर राममूर्ति सिंहजी राजनीति में एम० ए० थे। किन्तु व्यावहारिक रूप में वह समाजशास्त्री थे। दिल्ली आने से पूर्व वह लखनऊ में थे। उन दिनों श्रद्धेय श्री लालबहादुर शास्त्रीजी उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमंत्री थे। ठाकुर साहब को शास्त्रीजी के सान्निध्य में काम करने का अवसर मिला था और उसके फलस्वरूप शास्त्रीजी के रेलमंत्री बनने पर उन्हें भी दिल्ली आना पड़ा था। अवश्य ही शास्त्रीजी का मानवतावाद का सिद्धान्त उन्होंने हृदयंगम कर लिया था, तभी तो रेलवे बजट के प्रत्येक सत्र के समापन पर वह हिन्दी विभाग के अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने खर्च से जलपान कराते थे। इस अवसर पर दिल्ली की प्रसिद्ध नमकीन और मिठाई के साथ-साथ, एक मधुर गोष्ठी भी होती थी। यों ठाकुर साहब कार्यालय में प्रायः गम्भीर रहा करते थे, किन्तु इस गोष्ठी में वह खुलकर भाग लेते थे। विचार-विमर्श के साथ-साथ काव्य पाठ भी होता था। हिन्दी सहायकों में श्री कुंजबिहारी लाल और श्री संग्राम सिंह शास्त्री कवि भी थे। वह अपनी कविताएं सुनाया करते थे। श्री संग्राम सिंह शास्त्री की कविताएं हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण और चुटीली होती थीं। सभी अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने विचार व्यक्त करने की पूरी छूट थी। कभी-कभी ठाकुर साहब पर भी परोक्ष में बौछार पड़ जाती थी। किन्तु वह साहित्यिक वातावरण का आनन्द लेते थे, किसी बात का बुरा नहीं मानते थे। सब मिलाकर एक पारिवारिक वातावरण बनता था और बजट-सत्र की चार महीनों की थकान इस वातावरण में छू-मन्तर हो जाती थी।

बिहार के लोग प्रायः मेधावी होते हैं और विलक्षण भी। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से लेकर नटवरलाल तक बिहार की ही उपज है। इसी बिहार के गया जिले में उत्पन्न एक सज्जन से ठाकुर साहब का भी पाला पड़ गया था। क्लर्क की साधारण नौकरी से बढ़ते-बढ़ते रेल सेवा आयोग के अध्यक्ष पद पर पहुंचने वाले विलक्षण प्रवृत्ति एवं प्रकृति के स्वामी, श्री यदुनन्दन सिंह बघेल रेलवे बोर्ड में हिन्दी सहायक के पद पर नियुक्त हुए थे, अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत वह ठाकुर साहब की कुर्सी हथियाने के लिए उन्हें भी ढकेलना चाहते थे। इस संदर्भ में दोनों की रस्साकशी वर्षों तक चली। किन्तु ठाकुर साहब स्व० लालबहादुर शास्त्री जैसे गूढ़ और गहरे राजनेता के साथ काम कर चुके थे। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से न देकर, अपनी विनम्रता, सज्जनता और गांधीवादी नीति से 'चोर से कहो, चोरी करो, साहु से कहो जागते रहो' प्रवृत्ति वाले बघेलजी को मात दे दी। जब तक ठाकुर साहब सेवा निवृत्त न हुए, बघेल साहब की दाल न गली। ठाकुर साहब की

कर्त्तव्य-परायणता, कर्मठता और प्रशासनिक क्षमता से रेलवे बोर्ड के सभी उच्चाधिकारी प्रभावित थे। अट्ठावन वर्ष की आयु पूर्ण होने पर ही वह ससम्मान सेवा-निवृत्त हुए।

जैसा कि पहले कह चुका हूं, ठाकुर साहब राजनीति से एम० ए० थे। रेल-मंत्रालय के हिन्दी विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में हिन्दी की कोई उपाधि उनके लिए आवश्यक थी। दिल्ली में नौकरी करते हुए परीक्षाएं पास करने का प्रचलन बहुत पुराना है। किसी ने सुझाव दिया कि ठाकुर साहब भी हिन्दी में एम० ए० अथवा साहित्यरत्न कर लें। उन्होंने इस प्रस्ताव को हंसकर टालते हुए कहा, 'अब बूढ़ा तोता क्या राम-राम सीखेगा?' हिन्दी भाषा पर तो था ही, अंग्रेजी भाषा पर भी ठाकुर साहब का अच्छा अधिकार था। रेलमंत्रालय में आने से पूर्व उनकी कई पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी थीं। रेलमंत्रालय के अपने अतिव्यस्त कार्यकाल में उन्हें पुस्तक रचना का समय कहां से मिलता? फिर भी सरकारी कार्यालयों में प्रयोग के लिए उन्होंने घर में रात-रातभर जागकर 'मानक हिन्दी-अंग्रेजी कोश' तैयार किया। यह कोश पहले बम्बई से और बाद में दिल्ली के प्रसिद्ध प्रकाशक प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किया गया। यह शब्दकोश इतना लोकप्रिय और उपयोगी सिद्ध हुआ कि इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए और निश्चय ही आगे भी होते रहेंगे।

दिल्ली में कमलानगर और रूपनगर से मकान बदलते-बदलते मैं रोहतक रोड आ गया था। वहीं सरकारी आवास में ठाकुर साहब भी सपरिवार रहते थे। वह अतिथि-सेवा को बहुत महत्त्व देते थे। घर हो या दफ्तर, उनके यहां प्राय: लोग आते रहते थे। उन सभी का विधिवत् स्वागत-सत्कार होता था। मैं उनका अधीनस्थ कर्मचारी था किन्तु इस रूप में उन्होंने मुझे कभी नहीं देखा। जब भी उनके घर गया, बड़े स्नेह से मिले और आग्रहपूर्वक जलपान अथवा भोजन कराया। मुझे स्मरण है। एक बार मेरे बच्चे गांव से दिल्ली आ रहे थे। वह उन्हें लेने मेरे साथ स्टेशन तक गये। ठाकुर साहब भारतीयता के कायल और पोषक थे।

रोहतक रोड आ जाने पर हमारा सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। ठाकुर साहब की पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था। कहते हैं कि पत्नी के देहावसान के ही पश्चात् ठाकुर साहब में कुछ रूक्षता आ गयी थी। किन्तु यह रूक्षता ऊपरी थी। भीतर से वह अत्यन्त कोमल प्रकृति के थे। पत्नी के न रहने पर उन्हें बच्चों के प्रति माता-पिता दोनों का धर्म निबाहना पड़ता था। ठाकुर साहब के साथ उनके तीन पुत्र—चि० राजेन्द्र, सुरेन्द्र एवं नरेन्द्र तथा एक पुत्री सुश्री विद्या रहती थी। मैं इन बच्चों में बच्चों की तरह ही घुल-मिल गया था और कभी-कभी बच्चा बनकर इनके साथ खेला भी करता था। पहले तो बच्चे घर पहुंचने पर मुझसे दूरी रखते और बड़े आव-भगत से पेश आते थे। किन्तु जब हम काफी घुल-मिल गये

तो एक दिन सुश्री विद्या ने बताया, "हम लोग आप से बहुत डरते थे। बाबूजी ने बताया था कि आप मंत्री के भाई हैं।" मैंने हंसकर कहा, "दुत् पगली! अरे मैं किसी ऐसे मंत्री का भाई नहीं हूं जिससे डरा जाय। मेरे भइया, श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सहायक मंत्री हैं। वही बाबूजी ने बताया होगा।" सभी बच्चे हंसने लगे। दूरी तो पहले ही कम हो चुकी थी। परिवार में बच्चों का आना-जाना शुरू हो गया तो घनिष्ठता नित्य-प्रति बढ़ती गयी।

हमारी यह घनिष्ठता, स्वनामधन्य श्रीयदुनन्दन सिंह बघेल जिन्हें मैं उनके करिश्मों के कारण 'जादूनन्दन' कहा करता था, से नहीं देखी गयी। उन्होंने कुछ ऐसा कुचक्र चलाया कि बाद के दिनों में ठाकुर साहब मुझसे कुछ रुष्ट हो गये। यह खिन्नता उनकी व्यक्तिगत थी, वह भी अप्रकट रूप में। हमारा पारिवारिक संबंध फिर भी बना रहा।

बात यह हुई कि एक दिन ठाकुर साहब के मंगाने पर असिस्टेन्ट-डायरी के साथ-साथ मैं सेक्शन-डायरी भी उन्हें दे आया। बघेलजी उन दिनों सेक्शन अफसर थे। उन्होंने मुझसे सेक्शन-डायरी ठाकुर साहब से वापस लाने को कहा। जब मैं सेक्शन-डायरी वापस लेने गया तो ठाकुर साहब ने कहा, 'आपसे क्या मतलब, सेक्शन-डायरी सेक्शन अफसर की चीज है। वही ले जाएंगे।' बघेल साहब जिद पकड़ गये कि सेक्शन-डायरी मैं ही ले आऊं। उधर ठाकुर साहब थे कि हर बार वही उत्तर। मैं हैरान हो गया। अन्त में मैंने बघेलजी से कहा, आप दोनों अधिकारी हैं। आपस में लड़कर फिर एक हो जाएंगे। मुझे क्यों बीच में घसीटते हैं। मेरा उनका घरेलू संबंध है। वह मेरे हितैषी हैं। मैं उन्हें रुष्ट नहीं करूंगा। घरेलू संबंध की बात बघेलजी को चुभ गयी। उन्होंने मन-ही-मन कहा होगा— 'अच्छा देखूंगा।' फिर तो उन्होंने ऐसी चाल चली कि ठाकुर साहब और मेरे बीच खाई-सी खुद गयी। यद्यपि हमारा घरेलू संबंध फिर भी बना रहा। यह ठाकुर साहब की शालीनता ही कही जायेगी। एक बात मेरे समझ में कभी नहीं आयी। वह रहस्य मेरे लिए आज भी रहस्य बना है। ठाकुर साहब बघेलजी को बखूबी जानते थे। उनसे चौकन्ने भी रहते थे। किन्तु उनकी कोई बात वह काटते नहीं थे। ऐसा क्यों? मेरी समझ में नहीं आया। मैंने एक बार ठाकुर साहब से इस संदर्भ में पूछा था। पर वह टाल गये।

मैं प्रभात प्रकाशन के कार्यालय में उसके स्वत्वाधिकारी और अपने पुराने शुभैषी श्री श्यामसुन्दर के साथ बैठा था। बातचीत के दौरान उन्होंने मुझसे कहा, "एक ऐसी दुखद बात है जिसे सुनकर आप दहल जाएंगे।" मैंने उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासा व्यक्त की तो बोले, "ठाकुर राममूर्ति सिंहजी नहीं रहे। अपनी लड़की के पास बम्बई गये थे। वहीं उनका हार्ट फेल हो गया।" सुनकर मैं अवाक्।

ठाकुर साहब बड़े संयम-नियम से रहते थे। उनका स्वास्थ्य आयु की दृष्टि से अत्युत्तम था। परिवार की दृष्टि से वह बहुत ही सुखी और गृहस्थी की दृष्टि से बड़े ही सम्पन्न थे। फिर भी हार्ट फेल ? सुखी लोगों की मृत्यु का मार्ग भी सुखकर होता है। न कोई बीमारी, न कोई सेवा-सुश्रूषा। भरा-पूरा परिवार सहज ही त्यागकर वह दिवंगत हो गये। जिसको इस मृत्युलोक में सुख और शान्ति उपलब्ध रही, उसे स्वर्गलोक में और भी प्रचुर मात्रा में शान्ति प्राप्त होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

ठाकुर साहब के सभी बच्चे सुशील, सुशिक्षित और सेवापरायण हैं। उनकी एक पुत्री का विवाह फैजाबाद में हुआ था। दूसरी जिसका नाम सौ० विद्या है और जो अत्यन्त भोली है, का विवाह मेरे पड़ोस में हुआ। प्रत्यक्ष में तो ठाकुर साहब इस बालिका को बहुत डांटते थे किन्तु प्यार उसे इतना करते थे कि विवाह के बाद उसके लिए बम्बई जैसी महानगरी में एक फ्लैट खरीद दिया। उसके पति बम्बई में ही नौकर हैं। अपने पुत्रों को भी वह ऊपर से कड़ी नजर से देखते थे। मगर स्नेह और आशीर्वाद तीनों पुत्रों को ऐसा दिया कि तीनों आज ऊंचे-ऊंचे पदों पर विराजमान हैं। बड़े सुपुत्र चि० राजेन्द्र सुशीलता और शालीनता के ज्वलंत उदाहरण हैं। भारत सरकार के परमाणु ऊर्जा विभाग में उच्चाधिकारी हैं। दूसरे पुत्र चि० सुरेन्द्र को कोई इस युग का आदमी नहीं कह सकता। ऐसा सीधा लड़का (अब व्यक्ति) मैंने देखा नहीं। मेरे कहने पर उन्होंने शारीरिक शिक्षा के रूप में शान्ति निकेतन में सेवा शुरू की थी। आजकल वह विदेश में हैं। ठाकुर साहब का सबसे नटखट और प्यारा बच्चा चि० नरेन्द्र था। उसे ठाकुर साहब गुस्से में हलवाहा कहते थे। भगवान की ऐसी कृपा कि पिता का गुस्से में भी कहा गया शब्द आशीर्वाद बन गया। चि० नरेन्द्र ने पंडित गोविन्द वल्लभ पंत विश्व-विद्यालय, पंतनगर से 'कृषि इंजीनियर' की उपाधि प्राप्त की। ठाकुर साहब का यह भाग्यवान हलवाहा पुत्र आज पूरे मध्य प्रदेश के 'टैफे' (ट्रैक्टर संस्थान) का प्रभारी अधिकारी है।

ठाकुर साहब के देहावसान का समाचार दिल्ली में मुझे तब मिला जब उनके श्राद्ध के लिए एक ही दिन रह गया था। मैं भागकर उनके गांव पहुंचकर श्राद्ध में सम्मिलित होकर अपनी भी श्रद्धा अर्पित करना चाहता था। जीवन-भर रेल की सेवा में रहकर उसकी शिकायत ठीक नहीं है, किन्तु इसी रेल की कृपा से मैं उक्त अवसर पर पहुंचने में विफल रहा। गाड़ी पूरे सात घंटे लेट मेरे रेलवे स्टेशन, शाहगंज पहुंची। रात में जाना इसलिए भी दुष्कर सिद्ध हुआ कि स्टेशन से ठाकुर साहब के गांव बोधीपट्टी पहुंचने के लिए परिवहन का एक भी साधन उपलब्ध नहीं था। मन मसोसकर रह गया।

स्वर्गीय ठाकुर साहब की पुण्य स्मृति अक्षुण्ण रखने के लिए उनके सुपुत्र

प्रयत्नशील हैं। यह उनके सद्‌गुणों का परिचायक है। स्थानीय विद्यालयों में ठाकुर साहब के नाम से स्कालरशिप और पुरस्कार की योजनाएं कार्यान्वित करने के साथ-साथ उनकी पुण्य-स्मृति में एक स्मारिका प्रकाशित करने का प्रस्ताव सुनकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। अपने प्यारे भतीजे, भतीजियों को इन स्तुत्य कार्यों के लिए हार्दिक आशीर्वाद देते हुए मैं स्मारिका के लिए इस लेख के रूप में अपना श्रद्धा-सुमन सादर अर्पित करता हूं।

□ राजदेव त्रिपाठी
२० जुलाई, १९८२

पुष्पांजलि

स्वर्गीय ठाकुर राममूर्ति सिंहजी सादगी, संघर्ष और अपरिग्रह का मूर्त्त रूप थे। उनसे मेरा संबंध उनके कनिष्ठ पुत्र कुंवर नरेन्द्र सिंहजी और ज्येष्ठ पुत्री आयुष्मती मन्जुबाला के विवाह के द्वारा बना। उस अवसर पर उनकी निस्पृहता को देखकर मैं दंग रह गया था। हमारे यहां लेन-देन का जो आडम्बर चलता है और जिस प्रकार का प्रदर्शन होता है, उन्होंने उसको सर्वथा अनावश्यक ठहराया। इस संबंध में उन्होंने और तो और अपनी कोई रुचि भी व्यक्त नहीं की। विवाह के समय उस शुभ अवसर की स्मृति के रूप में समधी को दी जाने वाली मुहर भी उन्होंने मेरी पुत्री मन्जु को लौटा दी। विवाहोपरान्त जब यह बात मेरे कानों तक पहुंची तो मैं अवाक् रह गया। इस प्रकार निस्पृहता एवं अपरिग्रह अब तो ऋषि-मुनियों में ही संभव है और इसकी पराकाष्ठा पहुंची जब विवाह के पश्चात् दहेज की विभिन्न वस्तुएं जो हमने स्वेच्छा से ही बेटी मन्जु को प्रदान की थी, उनमें से भेजे गए रिफ्रीजेरेटर को स्वर्गीय ठाकुर साहब ने यह कहकर लौटा दिया कि उनके घर में रखने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है। हम लोग अचंभित रह गए। कुछ समय पश्चात् फिर उतने ही रुपये का चैक उनकी नजर किया तो स्वर्गीय ठाकुर साहब ने उसे भी सहज मुस्कान के साथ लेने से इन्कार कर दिया। अविश्वसनीय सहज स्वभाव, सरलता, सादगी, जिसका फिर कभी मुझे इस जीवन में साक्षात्कार नहीं हुआ।

त्याग के साथ-साथ सरलता और सादगी भी उनके जीवन की अभिन्न अंग रही। आजीवन वे खादी के अनन्य भक्त रहे। किसी प्रकार का वैभव उन्हें आकर्षित न कर सका। चमक-दमक से उन्हें सदैव ही वैराग्य रहा।

अपने जीवन के कठोर संघर्ष और सेवा-भाव का उन्होंने कभी बखान नहीं किया। हम लोग ही आपसी वार्तालाप में उसकी चर्चा कर लिया करते थे परन्तु उनके मुख से कभी आत्म-प्रशंसा सुनने को नहीं मिली। अपने कष्टों और

समस्याओं को वे भीतर ही छिपाए रहे। कभी लगा नहीं कि कोई मर्मकथा उन्हें भीतर से साल रही है परन्तु उनके देहावसान के उपरान्त उनके निजी सन्दूक को खोला गया तो उसमें पड़ी उनकी धर्म-पत्नी स्व० ठकुरानी साहिबा की ओढ़नी और कुछ चूड़ियां उनके दाम्पत्य-प्रेम की पीड़ा को कबीर के इन शब्दों में मौन अभिव्यक्ति दे रही थीं—

अंखियों में झाईं पड़ी पंथ निहारि-निहारी,
जीभड़ियां छाले पड़े राम पुकारि-पुकारी।

अपरिग्रह -- किसी से कुछ स्वीकार न करना उनके चरित्र का केन्द्र-बिन्दु था। गांधी-आन्दोलन के कितने ही नेताओं के सम्पर्क में वे आए परन्तु किसी से उन्होंने कुछ चाहा नहीं। अच्छे-से-अच्छे सुनहरे असवर आए परन्तु वह तपस्वी अपनी सादगी में मस्त रहा। कुछ मांगने की इच्छा ही क्या, चाहना भी नहीं की। स्वर्गीय ठाकुर साहब का यह व्यवहार, हो सकता है कुछ इष्ट मित्रों और परिजनों को खटकता रहा हो परन्तु मेरे लिए तो वे इसी के कारण अधिक वन्दनीय थे।

ठाकुर राममूर्ति सिंहजी सिद्धान्तों के साथ समझौता करने के विरोध में थे। यदि वे यह कर पाते तो (शायद) अपने और परिवार के लिए कुछ अधिक जुटा लेते परन्तु उन्होंने इसके बजाय कड़ी मेहनत और दृढ़ निश्चय से ही परिवार के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाया। अपने इन गुणों को अपने बच्चों में भी विकसित करने का यत्न किया और अपने बल-बूते पर उठाकर समाज में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य दिया।

ये कुछ शब्द उनके तपस्वी और कर्मठ जीवन के प्रति मेरी पुष्पाञ्जलि-स्वरूप हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे हम लोगों को इतनी शक्ति दें कि हम उस महात्मा के पद-चिह्नों पर चलने का साहस तो क्या करेंगे, आडम्बर तो करते रहें।

ईश्वर से विनय है कि उस महान् आत्मा को चिरशांति प्रदान करें।

□ जगदीश सिंह
दिल्ली

मृत्युंजय कालजयी स्वर्गीय राममूर्ति सिंह

स्वर्गीय राममूर्ति सिंह के बारे में स्वानुभूत भावों को शाब्दिक अभिव्यक्ति देने से कोई अज्ञात प्रेरणा हमेशा मुझे विरत करती रही। या शायद भावों का उर्मिल हिलोड़ बाहर नहीं आना चाहता था। व्यक्ति स्वत: में इतना खुदगर्ज होता है कि भावना की पूंजी भी मुक्त-हस्त दान करने में कार्पण्य दिखलाता है।

अभी पिछले ही साल की तो बात है। बाबूजी आये, अपनी सम्मोहक मुस्कान बिखेरकर सबको अपना मुरीद बना लिये। उनके प्रवास के दौरान जब भी भाई

राजेन्द्र सिंह के ऑकलैण्ड निवास पर गया वह कर्मठ हिन्दी सेवी-सदा ही साहित्य भारती की सेवा में निमग्न मिला। मैंने कभी उन्हें वक्त जाया करते नहीं पाया।

फरवरी, १९८१ का वह काला दिन याद है जब उनके स्वर्गारोहण का दारुण समाचार तार द्वारा भाई राजेन्द्र सिंह के हाथों मुझे सचिवालय शिलांग में मिला। मैं सहसा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। सोचने लगा अभी २८ जनवरी की ही बात है, उनसे वाराणसी में मुलाकात हुई थी और वे सदा के लिए पार्थिव शरीर छोड़कर अपार्थिव में लीन हो गये। तत्पश्चात् सब क्या हुआ ? लेखनी लिपिबद्ध करने को इन्कार कर रही है। पुराने घावों को कुरेदने का दु:साहस अस्वीकार है इसे। यही भाव बराबर याद आता रहा—

हाय गुलची तुझसे कितनी नादानी हुई।
फूल वह तोड़ा की गुलशन भर में वीरानी हुई।।

पर अपने पीछे वे एक सरस बाग छोड़ गये। माली का कुशल हाथ समयानुकूल साजने-संवारने को न रहा, पर माली शायद ऐसा बाग लगा गया है कि तत्काल इसकी आवश्यकता ही न हो। ऐसा दूरदर्शी और भविष्य-द्रष्टा था माली। विश्व की सभी चिंतन परम्पराओं में मृत्युजनित क्षति से जूझने या इनकार करने का इतना प्रयत्न हुआ है कि उसकी गरिमा का आभास गुरु से गुरुतर हो गया है, ठीक उसी तरह जैसे नास्तिक दैवी अस्तित्व का प्रबल व पुष्ट प्रमाण है।

गीताकार के शब्दों में—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

प्रकारान्तर से मैथिली शरण गुप्त ने भी इसी का भवानुवाद किया है—

"मृत्यु एक सरिता है जिसमें श्रम से कातर जीव नहा कर।
फिर नूतन धारण करता है कायारूपी वस्त्र बहा कर।"

स्वर्गीय राममूर्ति सिंह एक मनीषी थे जिनका यश.शरीर सदा ही अक्षुण्ण है। हमारे चिंतक सदा ही इससे जूझते रहे हैं। वादरायण व्यास ने गीता में इसी का प्रत्याख्यान करते लिखा है—

"जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युं ध्रुवं जन्म मृतस्य च"

ये सब उसी चिंतन परम्परा के विस्फोट हैं जिसकी आड़ में हमारे चिंतक मृत्यु को नकारने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसी परम्परा में बालि निधनोपरान्त राम शोकातुर तारा को संबोधित करते कह रहे हैं—

क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम शरीरा।।

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा॥

स्पष्ट रूप में मृत्यु के अकाट्य सत्य को नकारने के ये सभी दार्शनिक प्रयत्न हैं। ये सब नकार ही इस परम सत्य की स्वीकृति है।

तपोनिष्ठ अनन्य साहित्य-सेवी व सिद्ध-कर्मयोगी स्वर्गीय राममूर्ति सिंह अपने यशःशरीर से सदा अमर और चिरायु हैं। उस मृत्युंजय, देववत् को हम अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

□ जे० पी० सिंह
आई० ए० एस०
कृषि सचिव, (मेघालय)

पश्चिम रेलवे अनुवाद सेमीनार—जयपुर, दिनांक १६-१७ अगस्त, १९७१ ई०

रेलवे बोर्ड के हिन्दी अधिकारी

श्रीमान राममूर्ति सिंह के सम्मान में

दोहा

रेलवे हिन्दी जगत में, कल्प-वृक्ष अभिराम।
विकसित है कीरति कलित, सबके प्यारे राम॥
जाके यश की चन्द्रिका, छिटक रही चहुं ओर।
वन्दनीय ये राम हैं, दूज कलाधर कोर॥
राजत रेलवे बोर्ड में, अम्बर में ज्यों चंद।
मन, वच, कर्म से हिन्दीहित, लीन रहे सानंद॥

कवित्त

नीतिवान, नयवान, धैर्यवान, धर्मवान,
बुद्धि के निधान, धन्य-धन्य, जसधारी राम।
सुख सरसायो, हिन्दी कानन बनायो रम्य,
सुयश कमायो, भारी भाषा हितकारी राम।
रेलवे में हिन्दी की जगाई जगमग ज्योति,
रेलवे बोर्ड को हमारो अधिकारी राम।
जीवन सुफल कीनो भारती की भक्ति में ही,
भारत और भारती का पावन पुजारी राम।

२

सुमति क्षमा में सत्य शील में सखावत में,
शुचि समता में, सर्व श्रेष्ठ सौम्यता में है।
नय में, नमन में, सुबुद्धि में विशालता में,
निबल निवाहक नरेश नव्यता में है।
क्षत्रिय वंश के प्रशंस हंस, राममूर्ति,
हिन्दी हित जाहिर सुसिंह क्षमता में है।
भूरि भाग्यवंत भूति, भद्रता में, त्योंही भव्य,
भाव से भूरित रूप भूप भव्यता में है॥

शुभाकांक्षी—
□ सत्यदेव राव

पूजनीय बाबूजी

बाबूजी का और मेरा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से करीब २२-२३ वर्षों का साथ रहा और जीवन में बहुत कुछ उनसे सीखने का मौका मिला। वे उच्च-कोटि के विद्वान्, निःस्वार्थ कर्मयोगी, उदार-हृदय तथा उच्च-आदर्श वाले व्यक्ति थे। कुछ संस्मरण जो नहीं भूलते, इस प्रकार हैं—

मैं दिल्ली ट्रेनिंग के लिए गया हुआ था। बाबूजी उस समय ६/ई०, करोल बाग में रहा करते थे। इतवार का दिन था। बाबूजी आदतन, छुट्टी के दिन मिलने वालों से कतराया करते थे। घर में कहकर रखते थे कि कोई आये तो कह देना बाबूजी घर पर नहीं हैं। एक महानुभाव बाबूजी से मिलने आये। नाम बाद में मालूम हुआ कि वह सज्जन श्री राजबहादुर सिंह (गांधी प्रतिष्ठान वाले) थे। उन्होंने घंटी बजाई। मैंने दरवाजा खोलकर नमस्ते किया। बोले, "बाबूजी हैं?" मैंने कहा, "बाबूजी घर में नहीं हैं।" हमारा वार्तालाप बाबूजी सुन रहे थे। एका-एक आकर उनके सामने खड़े हो गये और हंसते हुए बोले, "ठाकुर साहब, आप हैं? आइये, आइये।" मुझे काटो तो खून नहीं। मैं शर्म से गड़ा जा रहा था और बाबूजी जोर-जोर से हंस रहे थे। मैंने उस दिन कसकर कान पकड़े कि आगे से कोई कितना भी घंटी बजाये, मैं दरवाजा खोलने नहीं जाऊंगा। यह घटना १९६० ई० की है।

काम समय पर हो, इस संबंध में बाबूजी बड़े सख्त थे। वे स्वयं अपना काम समय पर करते थे और कल पर नहीं छोड़ते थे। मैं बाबूजी से मिलने, रेलवे बोर्ड उनके ऑफिस गया था। मेरे साथ सुरेन्द्र, भी थे। बाबूजी काम में बहुत व्यस्त थे। बोले, "तुम लोग बैठो, मैं काम निबटा लूं तो थोड़ी देर में बाहर चलेंगे।"

उन्होंने एक टाइपिस्ट को बुलवाया और एक पत्र दिया, "इसे अभी टाइप करके ले आओ।" कहकर पुनः काम में लग गये। आधे घंटे बाद उन्होंने टाइपिस्ट को बुलाकर पूछा, "क्या वह पत्र टाइप हो गया?" वह बोला, "साहब, अभी नहीं हुआ है परंतु अभी करके लाता हूं।" बाबूजी का चेहरा क्रोध से लाल हो गया, परंतु केवल इतना कहे, "तुम अब टाइप मत करना, मैं किसी और से करा लेता हूं।" वह भयभीत था और कहता जा रहा था, "साहब, मैं अभी करके लाता हूं।" बाबूजी ने उसकी कोई बात नहीं सुनी और पत्र दूसरे टाइपिस्ट से तुरंत टाइप करवाया। बाद में मैंने बाबूजी से कहा, "शायद वह काम में भूल गया होगा और बाद में तुरंत करके लाने को कह रहा था, तो फिर आपने उससे काम क्यों नहीं करवाया।" बोले, "आज से वह कभी भी इस तरह काम टालने की कोशिश नहीं करेगा। यह उसके लिए एक छोटा-सा सबक था कि जो काम दिया जाये उसे तुरंत करो। यदि वह किसी अन्य जरूरी काम में लगा था तो बता देता, जिससे यह काम दूसरे को सौंप दिया जाता।" बाबूजी बंबई दौड़े पर आये थे। पश्चिम और मध्य रेलवे में हिन्दी के काम की समीक्षा एवं कठिनाइयों का समाधान जनरल मैनेजरों और अन्य अधिकारियों से मिलकर किया करते थे जिससे हिन्दी का प्रचार-प्रसार ज्यादा-से-ज्यादा और जल्दी हो। कार्यालय पहुंचने पर अभिवादन और स्वागत के बाद लोग ऑफिस संबंधी बातें करने लगे। बाबूजी बोले, "आप लोग कुछ सहमे-से लग रहे हैं। मैं ऑफिसर की हैसियत से आप लोगों के बीच उपस्थित नहीं हूं। मैं आप लोगों के बीच घर के मुखिया के रूप में उपस्थित हूं और आपके परिवार तथा घर संबंधी बात करना अधिक पसंद करूंगा। ऐसा मौका कब मिलता है जब आप-हम एक साथ बैठकर आपसी समस्याओं पर बातचीत कर सकें। मैं आप लोगों से मिलने आया हूं और इस तरह थोड़ा-सा परिवर्तन भी चाहता हूं।" उनकी बातों से लोग बहुत खुश हुए और ऐसे घुल-मिल गये जैसे कोई अपना भाई हो। काम में सख्त होते हुए भी वह हृदय के बहुत कोमल थे। उन्होंने मुझे जो प्यार दिया उसे मैं जीवन-भर भूल नहीं सकता। उनके बारे में जितना लिखा जाए उतना कम है। ईश्वर बाबूजी की महान् आत्मा को शांति प्रदान करे और अगले जन्म में फिर से मुझे उनका सान्निध्य दे।

□ तीर्थराज सिंह

जीवन का सर्वाधिक दुखमय दिन

तीस जनवरी, रात एक बजे मैं बच्चों को लेकर घर से बाहर परम पूज्य बाबूजी की प्रतीक्षा में खड़ी थी। 'ये' बम्बई वी० टी० रेलवे स्टेशन पर बाबूजी

को लेने गये थे। इतने में एक टैक्सी आकर हमारे सामने खड़ी हो गई। मैं बच्चों समेत टैक्सी के पास गई और बाबूजी को उतरते देखकर एक क्षण के लिए यही लगा जैसे स्वप्न देख रहे हैं। पर सचमुच बाबूजी मेरे सामने खड़े थे। लगभग दो वर्ष बाद उनका बम्बई आना हो पाया था। उनके आने पर हमेशा लगता था कि घर कितने लोगों से भर गया है। इस बार भी ऐसा ही लगा। सब जगह का समाचार उनसे सुना। इस बार थोड़े कमजोर लगे मुझे। हम लोगों ने उनकी हर सुख-सुविधा का ध्यान रखा। दो सप्ताह बड़ी खुशी से बीता। बाबूजी शीघ्र भोपाल छोटे भाई नरेन्द्र के यहां जाना चाहते थे।

उस दिन रविवार था, १४ फरवरी। बाबूजी की अनुमति लेकर मैंने सुबह समोसे बनाये थे। उन्होंने बड़ी खुशी के साथ टी० वी० प्रोग्राम देखा। मुझे या किसी को क्या मालूम था कि आज का दिन हमारे लिए सर्वाधिक दुखभरा दिन होगा। दोपहर सवा बारह बजे हमसे हमारे प्यारे बाबूजी छिन गए और मैं डॉक्टर के साथ आई तो हक्की-बक्की-सी खड़ी रही। उस सच्चाई को मानने को तैयार नहीं। प्रश्न उठा कि हे भगवान्, यह क्या हो गया? जड़वत् हो गई। गांधीजी के पद-चिह्नों पर चलने वाले बाबूजी 'हे राम हे राम' कहकर हमेशा-हमेशा के लिए सो गये।

मेरी कलम रुक-रुक जाती है। उनकी याद हर क्षण आती रहती है। उस दिन जो सत्यता हमारी आंखों के सामने उभरकर आई उस पर आज भी विश्वास नहीं होता। बस उनकी स्मृतियां रह गई हैं।

जो संसार को प्रकाश देकर स्वयं तपता हो ऐसे थे हमारे बाबूजी। स्वयं अपने दुखों को जाहिर नहीं होने देते थे। केवल दूसरों से दुखों, आवश्यकताओं को जानने और यथासम्भव कम करने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने जीवन पर्यन्त दिया ही, लिया कुछ नहीं। अन्त में दो मिनट सेवा करने का समय भी नहीं दिया। उन्हें स्वावलम्बी निष्काम कर्म-योगी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बेहद परिश्रमी। निःस्वार्थभाव तो कूट-कूटकर भरा था उनमें। गरीबों को देना, असहायों की सहायता करना उनका मुख्य लक्ष्य था।

स्वर्गीय बाबूजी के बनाये हुए मार्ग पर हम सब चलें, इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करती रहूंगी। बाबूजी आज भी हमारे मार्ग-दर्शक के रूप में हैं। हमारे लिए महान् आदर्श छोड़ गये हैं—उससे हमें हमेशा प्रेरणा मिलती रहेगी। ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूं कि उनकी महान् आत्मा को परम शांति दे और हम सब भाई-बहन तथा बाल-बच्चों को उनके अभाव को सहने की शक्ति दे।

□ विद्या

ठाकुर राममूर्ति सिंह

हमारे जीवन में कुछ एक व्यक्तित्व ही इतने उभरकर सामने आते हैं जिनकी छाप अमिट पड़ती है और जिन्हें भुलाना सहज नहीं होता। ठाकुर साहब का नाटा कद, श्याम वर्ण, विशुद्ध खादी मंडित सुगठित देहयष्टि। सदैव सहज क्रोध-रहित बेधक दृष्टि और सौम्य गंभीर मुखाकृति उनके दृढ़-निश्चयी कर्मठ व्यक्तित्व को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती थी।

मेरा ठाकुर से साहब से प्रथम संपर्क आज से २५ वर्ष पूर्व सन् १९५७ ई० में तब हुआ जब वे हिन्दी सहायक चयन मण्डल के एक सदस्य थे और मैं उनके समक्ष एक अभ्यर्थी के रूप में उपस्थित हुआ। तभी उन्होंने मुझे प्रभावित किया। संपर्क घनिष्ठ से घनिष्ठतर हुआ। पर इन २५ वर्षों में मुझे उनकी देहयष्टि में या उनकी कार्य-क्षमता एवं स्फूर्ति में बार्धक्य का कभी कोई प्रभाव परिलक्षित न हुआ।

मैं हिन्दी सहायक के रूप में चुन लिया गया पर इस रूप में कभी कार्य नहीं किया तथापि सन् १९५८ से ६२ तक ९ वर्ष रेलवे बोर्ड में कार्य करने का अवसर पाकर उनके अधिकाधिक संपर्क में आया। मैंने कुछ अन्यतम विशेषताओं के उनमें दर्शन किए। उदाहरणार्थ वे एक आदर्श परिवार प्रमुख थे। अपनी पत्नी के अभाव में अपने बच्चों की छोटी-से-छोटी आवश्यकता और सुविधा-असुविधा के प्रति वे सजग थे पर साथ ही घर की पूर्ण सुचारु व्यवस्था और बच्चों पर पूर्ण अनुशासन भी रखते थे। मैंने उन्हें कभी किसी पर और अपने बच्चों पर भी क्रोधित होते न देखा। पर मजाल थी कि बच्चे कभी उनकी किसी इच्छा की अवहेलना का दुस्साहस करें। तभी तो उनके तीनों पुत्र समुचित शिक्षा प्राप्त कर उनका आशीर्वाद लेकर श्रेष्ठ पदों पर प्रतिष्ठित हो सके।

उक्त पारिवारिक दायित्वों के बावजूद भी वे कार्यालय के दायित्वों के प्रति पूर्ण निष्ठावान् रहे। रेल कार्यालयों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार, प्रशिक्षण, अनुवाद या क्रियान्वयन के सभी पदों पर उनकी सुदृढ़ पकड़ थी और वे इसके लिए जो भी कदम उचित समझते थे उसका समर्थन प्राप्त कराने में समर्थ थे। रेलों पर हिन्दी कार्य के विस्तार करने में उनकी प्रारंभिक २० वर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका को नहीं भुलाया जा सकता। इन सभी दायित्वों का सफल निर्वाह करते हुए भी वे समय निकालकर हिंदी-अंग्रेजी व्यावहारिक कोश तैयार करने में समर्थ हो सके।

सन् १९६२ में मध्य रेल पर हिन्दी पर्यवेक्षक और तत्पश्चात् यहां पर हिंदी अधिकारी के रूप में पदोन्नत होने पर यद्यपि मैं उनसे दूर हो गया था पर कार्य की दृष्टि से संपर्क अधिक प्रगाढ़ हुआ था। प्रारंभिक वर्षों में विपरीत परि-स्थितियों में से मार्ग निकालकर हिंदी कार्य को आगे बढ़ाना था। सन् ६५ ई० के आसपास के भाषायी आंदोलन ने सारे वातावरण को और विषाक्त बना दिया

था और हम अपनी कठिनाइयों के लिए अक्सर उन्हें और उनके माध्यम से रेलवे बोर्ड के प्रति शिकायत से भरे रहते थे। पर वे हमारी बातें सहज रूप में सुन लेते थे। उन्होंने इन शिकायतों का कभी बुरा न माना और यथा-संभव कार्य आगे बढ़ाने का हमें मार्ग दिखलाया। साथ ही उन्होंने कभी यह महसूस न होने दिया कि वे रेलवे बोर्ड के एक प्रशासक की भूमिका निर्वाह कर रहे हैं और हम हैं मातहत कर्मचारी। वे सदैव अंग्रेज मार्ग-दर्शक के रूप में सामने आये और मुझे सदैव 'चतुर्वेदीजी' कहकर ही संबोधित करते रहे।

१९७० के आसपास उन्होंने अपने जामाता को बंबई में सेवारत करा दिया और फिर कुछ दिन पश्चात् हमारे पड़ोस में फ्लैट लेकर बसा भी दिया। फल यह हुआ कि उनके अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी उनका सान्निध्य मुझे मिलता रहा क्योंकि वे नियमपूर्वक प्रतिवर्ष अपनी पुत्री और जामाता के पास कुछ दिन के लिए बंबई आया करते। इस बार भी वे कुछ दिन पूर्व बंबई आये थे और कुछ अधिक ठहर गये थे। १३ फरवरी को उन्होंने समय निकालकर मेरे फ्लैट पर आने का कष्ट किया था। इस भेंट में जहां बीते दिनों की अनेक घटनाओं पर चर्चा हुई वहां उन्होंने मुझसे अवकाश ग्रहण के पश्चात् हिन्दी कार्य से जुड़ने की एक योजना समझाई और उस पर विस्तार से बातचीत की। इस अवसर पर उन्होंने मुझसे सपरिवार वाराणसी आने का भी अनुग्रह किया। पर स्वप्न में भी न सोचा था कि यह निमंत्रण, मात्र निमंत्रण ही रह जायेगा और चर्चा, अंतिम चर्चा सिद्ध होगी।

अगले दिन रविवार, १४ फरवरी को वह अनाहूत घड़ी आ पहुंची जो उन्हें हमसे सदैव के लिए दूर ले गयी। मैं दोपहर को भोजन के पश्चात् विश्राम कर ही रहा था कि दरवाजे पर दस्तक पड़ी। दरवाजा खोला तो देखा तीर्थराज सिंहजी को। काफ़ी घबड़ाये हुए-से थे। पूछा तो बोले, 'बाबूजी तत्काल बुला रहे हैं।' मैंने सोचा वापसी यात्रा के बारे में कुछ निश्चय कर उसकी सूचना देना चाहते होंगे। पर जब तक सीढ़ी उतरकर उनके पास तक पहुंचूं, दूसरी बार बुलाहट हो चुकी थी। मैंने ठाकुर साहब को काफी बेचैनी की स्थिति में पाया। वे हांफ रहे थे। पूछने पर कहने लगे कि कुछ समय पूर्व शौचालय गये थे और तभी से सांस फूल रही है। कभी लेटते, कभी बैठते, कभी पानी पीते पर लाभ न दीख पड़ता। कोई ज्ञात कारण न उन्हें नजर आ रहा था और न मेरी समझ में ही आया। न सीने में दर्द था और न पसीना छूट रहा था। डॉक्टर बुलाने धेवती गई हुई थी। विलंब देख दूसरे, पास के डॉक्टर को बुलाने का सुझाव उन्होंने मान लिया पर इसी बीच इच्छित डॉक्टर ही आ चुका था। डॉक्टर को उन्होंने अपना हाल बतलाया। परीक्षा कर उसने हृदय रोग का संकेत देते हुए तत्काल अस्पताल ले जाने का सुझाव दिया। साथ ही कुछ गोलियां दी जिन्हें पानी के सहारे मेरी पत्नी ने

उन्हें निगलवा दिया। दूसरी ओर डॉक्टर ने सिरिंज में इंजेक्शन तैयार कर नस में देना शुरू किया तो बीच में ही उनका रक्त-प्रवाह बंद हो गया। डॉक्टर ने तत्काल सिरिंज निकाली और हम लोगों की सहायता लेकर कृत्रिम श्वसन का निष्फल प्रयत्न किया। पर ठाकुर साहब तो इस बीच माया-मोह से नाता तोड़ महाप्रयाण कर चुके थे। सारा ठाट वैसा का वैसा ही पड़ा था पर बनजारा जा चुका था। काया हमारे सामने थी जिसे भूमिस्थ करने को हम विवश थे। परिवार के सदस्य इस अप्रत्याशित घटना पर स्तब्ध रह गये थे और हमें उनके अंतिम संस्कार की तैयारी के निष्ठुर दायित्व-निर्वाह के लिए तत्पर होना था। पुत्री-जामाता और उनके बच्चे बिलखने लगे और हजारों मील दूर बसे उनके पुत्र स्वप्न में भी इस अनहोनी की कल्पना न कर सके होंगे। उनमें से किसी एक को भी बुलवा पाने में हम असफल रहे। शायद ठाकुर साहब, जो सारे जीवन अपने परिवार और परि-जनों की सेवा में जुटे रहे, नहीं चाहते होंगे कि ऐसे समय भी किसी की सेवा ग्रहण करें। तभी तो उन्होंने अपने जीवन-त्याग के लिए उसी फ्लैट को योग्य माना जिसे कुछ वर्ष पूर्व बड़े चाव से अपनी पुत्री और जामाता के लिए लिया था।

संभवतया मेरे पूर्व जन्म का ही कुछ संस्कार रहा होगा। जो इन अंतिम क्षणों में मैं उनकी इच्छा से पास आकर कुछ काम आ सका और उस दिन के अंतिम प्रहर में उनकी काया को अग्निदेव को सौंपने में सहायक बना। सच ही तो है—'मन चाही नहिं होत है, प्रभु चाही तत्काल।'

मैं ठाकुर साहब को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित कर उनकी पुण्यात्मा की चिरशांति की प्रार्थना करता हूं।

□ रवीन्द्रनाथ चतुर्वेदी
भूतपूर्व वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी
(मध्य रेल)

वे कहां चले गये ?

मेरे सहपाठी बाबू रामर्मूति सिंह कहां चले गये ? यह जानते हुए भी कि वह ज्योति, परम ज्योति में विलीन हो गई मन विश्वास नहीं करता। यही लगता है कि अभी कहीं से आते होंगे और फिर उनसे बातें होंगी। अपनी व्यथा कहकर थोड़ा आराम का अनुभव करूंगा। यह सब अतीत की बात हो चुकी है। वह विनम्र, शिष्टता तथा शालीनता की मूर्ति कहां अन्तर्धान हो गई जिसके समीप पहुंचने से ही आनंद की अनुभूति होती थी।

राममूर्ति सिंहजी से मेरी पहली भेंट काशी विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के किंग एडवर्ड हॉस्टल में १९४३ की जुलाई में हुई। वे भी मेरी तरह

बी० टी० की डिग्री लेने आये हुए थे। उनका कमरा मेरे कमरे से दूसरे या तीसरे नम्बर पर पड़ता था। उनकी प्रसिद्धि कॉलेज के मेधावी तथा विनोदप्रिय विद्यार्थियों में थी। अवकाश के समय, विद्यार्थियों की गोष्ठी में उनकी खिल-खिलाहट सुनी जा सकती थी। उनमें गम्भीरता का पुट था जो आजीवन उनके व्यक्तित्व का अंश रहा। सन् १९४४ के ग्रीष्मकाल में सभी अपना कार्य पूरा कर घर चले गये और जीवन के अनन्त संघर्ष में खो गए।

सोलह वर्ष बाद, १९६० में उनसे कलकत्ते में महाप्रबंधक पूर्वी रेल के कार्यालय में अचानक भेंट हो गई। वे रेलवे बोर्ड के प्रथम हिन्दी अधिकारी के रूप में आये हुए थे। मैं मुख्य कार्मिक अधिकारी के कार्यालय में हिन्दी अनुभाग के अधीक्षक के रूप में उपस्थित था। पहचानने में देर नहीं लगी और विद्यार्थी जीवन के साहचर्य से आत्मीयता का पुट आया। हम दोनों एक पथ के यात्री थे। उनका कार्यक्षेत्र विशाल था और मेरा केवल पूर्व रेलवे तक सीमित। हिन्दी को रेलवे में स्थापित करने के लिए उन्होंने क्षेत्रीय रेलों में हिन्दी विभाग की स्थापना कराया तथा उसको सजाया-संवारा। प्रारम्भिक काल में रेलों में हिन्दी चलाने में बहुत-सी कठिनाइयां थीं, जिन्हें ठाकुर साहब ने बड़ी बुद्धिमानी एवं कौशल से दूर किया। अब हिन्दी रेलों में चल पड़ी है। हिन्दी विभागों में प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अधिकारी भी हो गए हैं। आज जो कुछ भी रेलवे में हिन्दी सम्बन्धी कार्य हो रहा है उसका श्रेय ठाकुर साहब को है।

दानापुर के रेलवे विद्यालय के प्रधानाध्यापक पद से १९७७ में अवकाश ग्रहण कर घर आ गया। एक दिन रामकटोरा (वाराणसी) में ठाकुर साहब से अप्रत्याशित रूप से भेंट हो गई। जीवन के संध्याकाल में भेंट होने से हम दोनों बहुत आनन्दित हुए। आनन्द की अनुभूति इस बात से और भी बढ़ गई कि हम दोनों के मकान समीप थे। रोज के उठने-बैठने और वार्तालाप ने हम दोनों को और समीप ला दिया। दो-एक रोज न मिलने पर हम दोनों बेचैनी का अनुभव करते। ठाकुर साहब खोज-खबर लेने पहुंच जाते। अपने स्नेही स्वभाव से उन्होंने मेरे घर के सभी सदस्यों को अपना बना लिया था। ठाकुर साहब चले गये हैं। अपना स्नेह दानकर और स्निग्ध मुस्कान छोड़कर उस दिव्य लोक को जहां से कोई आना नहीं चाहता।

ठाकुर साहब साधु स्वभाव के थे। जो भी उनके पास जाता, उसे उचित परामर्श देते और मदद भी करते। यथा—

साधूनाम् दर्शनं पुण्यम्, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन लभते तीर्थम्, साधवो सद्यः समागमः॥

वे विद्वान् व्यक्ति थे। हिन्दी में उनकी लिखी कई पुस्तकें हैं। रेलवे में हिन्दी के कार्य को सुगठित करने में इतने व्यस्त रहे कि लेखन पर विशेष ध्यान न दे

सके। जीवन के आखीर तक अपनी पुस्तक 'हिन्दी-अंग्रेजी शब्द कोश' के संशोधन एवं परिवर्द्धन में लगे हुए थे। शब्दों के बारे में उनसे बराबर बहस होती थी। वे अपने मित्रों, साथियों और जानकार लोगों से जिज्ञासा प्रकट करते और पूरी तरह सन्तुष्ट होने पर किसी शब्द का अर्थविशेष स्वीकार करते। वे सादगी और उच्च विचारोंके प्रतिमूर्ति थे। सदा खद्दर के कपड़े धारण करते, वे भी मोटी खादी के, जिनमें तड़क-भड़क न होती थी। दूसरों को भी सदा उच्च विचारों से अनुप्राणित करते थे। अच्छे कार्यों के लिए अच्छे साधनों पर ही बल देते थे। स्वेच्छाचारिता, डींग हांकने तथा अनुचित साधनों से उन्हें घृणा थी। विद्याध्ययन के लिए वे परिश्रम पर बहुत जोर देते थे। शादी-विवाह में फिजूलखर्ची, तड़क-भड़क, बड़ी-बड़ी दावतें, लेन-देन व दहेज के वे कट्टर विरोधी थे। अपने घर वालों को भी ऐसे सभी कार्यों से विरत रहने की सलाह देते थे। इस संबंध में अपना पारिवारिक अनुभव सुनाया करते थे। शिष्टता तो उनके जीवन का अंग थी। सबसे स्नेहपूर्वक मिलते। घर से बाहर आकर विदा करते। यह बात केवल औपचारिकता मात्र नहीं थी बल्कि हार्दिकता से भरी होती। रोज के मिलने-जुलने वालों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करते थे।

जहां भी वह रहे, अपने व्यक्तित्व की सुगंध उन्होंने बिखेर दी। लोगों को अपना बना लिया। जिस कार्य में लगे, पूरी निष्ठा, दृढ़ता तथा ईमानदारी से पूरा किया। रेलवे बोर्ड तथा भारतीय रेल के दूरस्थ कार्यालयों में हिन्दी की साख जमा दी। उनमें शालीनता, सौजन्य तथा कर्मठता का अद्‌भुत समन्वय था। वे निश्छल, स्नेही एवं परोपकारी जीव थे, 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की मूर्ति थे। बाहर से गम्भीर दीखने वाले ठाकुर साहब अत्यन्त कोमल हृदय के व्यक्ति थे। उनका जीवन इस वाक्य का ज्वलंत प्रमाण था—

"A good and useful life sets in motion a blessed circle of goodness, which continues long long after the person is physically no more".

मेरे आदरणीय मित्र व सहपाठी सदा-सदा के लिए चले गए हैं, लेकिन उनकी स्मृति का संगीत मेरे हृदय में जीवन पर्यन्त गूंजता रहेगा।

☐ केशवदेव चौबे
रामकटोरा, वाराणसी।

अंतिम कामना

बाबूजी की दिवंगत आत्मा को शत-शत प्रणाम। जिस परम पिता ने बाबूजी के रूप में इतनी महान् आत्मा को धरती पर उतारा उसे एक ओर हम बार-

बार धन्यवाद देते हैं तो दूसरी ओर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।

बाबूजी की ईमानदारी, उनकी सादगी, विद्वता किससे छिपी है? हममें से कौन नहीं है परिचित उनके उज्ज्वल, बेदाग चरित्र से, उनके परिश्रमी, परोपकारी व्यावहारिकपन एवं दृढ़ स्वभाव से? कौन नहीं जानता कि इस लोलुप, अनैतिक दुनिया में जहां बड़े-से-बड़े अपने सिद्धान्तों का सौदा कर बैठते हैं, वहीं स्वर्गीय बाबूजी अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे। वह अपने संघर्षमय जीवन की हर परीक्षा में सफल रहे। उनको कोई भी स्थिति हिला न सकी, विचलित न कर सकी। यदि वह विचलित हुए तो अपने सगे-संबंधियों के आपसी मतभेद से। उनके जीवन के अंतिम दिनों में यह बात बहुत स्पष्ट हो गई थी। हमारे मिल-जुलकर रहने की बात वह अक्सर किया करते थे। बचपन की ओर निगाह दौड़ाता हूं तो भी कुछ ऐसा ही पाता हूं। बाबूजी यदि किसी बात से अधिक नाराज होते थे तो वह हमारी आपसी लड़ाई से, विशेषकर मेरी व नरेन्द्र की। पढ़ाई-लिखाई के लिए, खेल-कूद के लिए, शोर-गुल के लिए यहां तक कि कुछ नुकसान कर देने पर भी वह नाराज नहीं होते थे, किन्तु हमारे लड़ते ही उनका तेवर बदल जाता था। इस सबके पीछे बाबूजी के मन में केवल हमारे मिल-जुलकर रहने की भावना के अतिरिक्त और क्या हो सकता था?

ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हम सबको मिल-जुलकर रहने की प्रेरणा दे ताकि हम किसी भी स्थिति का सुगमता से सामना कर सकें व साथ-ही-साथ बाबूजी की अंतिम कामना पूरी कर सकें।

□ सुरेन्द्र

बाबूजी की एक स्मृति

अपने भाई-बहनों में मैं सबसे बड़ी हूं। मेरी शिक्षा गांव की शाला तक हुई। मां की बीमारी और गांव में आगे पढ़ाई की सुविधा न होने के कारण मैं अधिक नहीं पढ़ पाई। बचपन में मैं बाबूजी को 'लाला' कहती थी। बात यह थी कि बाबूजी जब गांव आते प्रायः लिखते-पढ़ते रहते या कापियां जांचा करते। उनका पुलिन्दा देखकर गांव-घर की महिलाएं उन्हें मजाक में 'लाला' (पटवारी) कहतीं और उनका सुन-सुनकर मैं और विद्या भी 'लाला' कहती। बड़े होने पर हम लोग बाबूजी कहने लगे और समय के साथ-साथ वह सभी के बाबूजी बन गए।

बाबूजी का संग मुझे बचपन में नहीं मिला। शादी से एक या डेढ़ वर्ष पूर्व लखनऊ में मुझे मां और बाबूजी दोनों के साथ रहने का प्रथम और अंतिम अवसर मिला। उसके बाद मेरी शादी हो गई और संयोग से मेरी ससुराल वाले भी

लखनऊ में ही रहते थे फिर भी मेरा आना-जाना कम होता। मां के निधन के बाद बाबूजी दिल्ली चले गए और हम लोग फैजाबाद आकर रहने लगे। मेरे पति फैजाबाद में एडवोकेट थे। बाबूजी का स्नेह और सहारा मुझे तब मिला जब मुझे उसकी सर्वाधिक आवश्यकता थी। पांच वर्ष पूर्व जब दैव ने मुझे वह दिन दिखा दिया जो भारतीय नारी के लिए सबसे दुखदायी होता है तब बाबूजी का संरक्षण मुझे भरपूर मिला। सोचती हूं क्या ईश्वर से यह भी नहीं देखा गया जो बाबूजी को हमसे छीन ले गया। बाबूजी दो-तीन महीने में फैजाबाद आते और दो-चार दिन मेरे साथ रहकर बनारस वापस जाते। उनके आने से और उनकी चिट्ठी से समाचार के साथ-साथ बड़ी सांत्वना मिलती। दिसम्बर, १९८१ में जब वे अंतिम बार फैजाबाद आए तो मुझसे कहा, 'भई तुम भी बैंक के काम-काज को समझ लो—हमेशा मैं ही थोड़े ही करता रहूंगा।' वह कौन-सी कोमल भविष्यवाणी थी जो कि महीने बाद ही कटु सत्य बनकर रह गई। अब तो उनकी स्मृति ही मेरी धरोहर है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे और मेरे तीनों भाइयों को वह शक्ति और सामर्थ्य जिससे वे मिलकर हमेशा उन्नति करते रहें।

□ शीला

बाबूजी : एक संकल्प

बाबूजी स्वयं में ही एक युग विशेष का संकल्प थे। मानव-सभ्यता का इतिहास नित नये संकल्पों का इतिहास है। बदलती हुई परिस्थितियों में रचना और निर्माण का कार्य बिना संकल्पों के सम्भव नहीं हुआ है। परिस्थितियों से प्रभावित होना मनुष्य का स्वभाव है। उनमें विशिष्ट जन वे होते हैं जो परिस्थितियों को अनुकूलित करने का संकल्प करते हैं। ऐसे ही विशिष्ट जन निभाते हैं युग-निर्माण की भूमिका। बाबूजी की जीवन-यात्रा एक संकल्प-यात्रा थी जो नये युग के निर्माण का दिशा-निर्देशन करती रही। बाबूजी कतिपय ऐसे व्यक्तियों में थे जिन्होंने आधुनिक युग के आदेशों को न केवल समझा था, बल्कि उन्हें जिया भी। किन्तु आधुनिक युग की दुष्प्रवृत्तियां उन्हें छू तक नहीं गयीं।

शारीरिक दृष्टि से बाबूजी साधारण कद-काठी के थे। परन्तु उनके चेहरे की गम्भीरता एवं उनकी विश्लेषक दृष्टि सहज ही उनके व्यक्तित्व को असाधारण बना देती थी। उनसे प्रथम बार मिलते ही कोई व्यक्ति उनकी विवेकशीलता तथा अनुभव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। उल्लेखनीय बात यह है कि उनके व्यक्तित्व का यह प्रभाव किसी सप्रयत्न प्रदर्शन के कारण नहीं था, यह उनकी स्वभावगत विशेषता थी जो उनकी आचरण-संहिता के साथ बद्धमूल रही। यदि बाबूजी का कटाक्ष उनके स्थापित मूल्यों एवं मान्यताओं की उपेक्षा होने पर

उनकी सहज परन्तु गम्भीर प्रतिक्रिया का आभास देता था, तो समय-समय पर किया गया उनका विनोद उनकी जीवन्तता का परिचायक होता था।

बाबूजी की आचरण-संहिता बिलकुल स्पष्ट थी। उसमें कोई अंतर्विरोध नहीं था। समय का अपव्यय, लक्ष्यहीन तथा आदर्शहीन कार्य, अनुद्यम, पुरुषार्थहीनता, तथा तर्कविहीन परम्पराओं का अन्धानुकरण उनको अप्रिय था। कर्म में अनास्था तथा भाग्यवादिता, निर्लज्जता, संकोचहीनता एवं स्वार्थपरता से उन्हें घृणा थी। इसके साथ बाबूजी व्यक्तिगत सुविधा के लिए किसी को कष्ट देना तो जानते ही नहीं थे। अपने कष्ट में भी दूसरों से सहायता लेने से वह भरसक कतराते थे। दूसरी ओर बाबूजी ने उचित एवं न्याययुक्त कार्य के लिए किसी को भी सम्बोधित करने में कभी संकोच नहीं किया। न्याय दिलाना उनके स्वभाव में था।

बाबूजी मेधावी छात्र और आजीवन भाषा-विज्ञान के शोधार्थी की भांति शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों तथा व्याख्याओं को जानने में लगे रहे। शब्दों का गलत प्रयोग तथा भाषा की अशुद्धि उन्हें कभी सहन नहीं थी। एक उच्च अधिकारी होने का मद उनकी अनुभूति से परे था। लालसा तथा प्रलोभन उनके लिए कल्पनातीत था।

बाबूजी व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन—दोनों में एक सच्चे मानव थे। अपने परिवार के लिए वे अत्यधिक उत्तरदायी संरक्षक और पिता थे, तो समाज और देश के लिए प्रेरणा के स्रोत। उनका सान्निध्यमात्र किसी को आत्मविवेचन को बाध्य कर सकता था। जीवन पर्यन्त उन्होंने अपने संकल्प को नहीं छोड़ा। उसी के साथ उनकी पुण्य आत्मा इस नश्वर देह को त्याग परमात्मा में लीन हो गई।

□ डॉ० महेश विक्रम

शक्ति के स्रोत बाबूजी

बाबूजी के साथ बिताये हुए दिन आज एक-एक करके मेरी आंखों में तैर रहे हैं। अन्त में किसी-न-किसी रूप में हमेशा उनकी छवि घूमती रहती है। मैं बाबूजी की सबसे छोटी सन्तान हूं। मां की कोई छवि मेरे मानस पर अंकित नहीं है। केवल सुनकर 'मां' शब्द को महसूस करने की कभी-कभी कोशिश करती हूं। किन्तु बाबूजी ने मां की कमी को कभी महसूस नहीं होने दिया। सचमुच बाबूजी ने जितनी कुशलता से घर संवारा, अपने बच्चों को सबल बनाया उतनी ही दक्षता से वे अपने कार्यक्षेत्र में सम्मानित हुए।

विवाह के बाद उनकी सेवा करने का अवसर मुझे न मिला। एक ही शहर में मायका व ससुराल होने के नाते उनसे केवल मिलना ही हो पाता था, साथ रहना

नहीं, यह बात मुझे रह-रह कर टीसती है। काश, बाबूजी मेरे साथ भी कभी-कभी रहने आते, मनभर कर उनकी खातिर करती और अपनी साध पूरी करती। सच पूछा जाए तो बाबूजी ने किसी की सेवा ग्रहण नहीं की। सिद्धान्त के बड़े पक्के थे। किसी पर बोझ नहीं बने। अपने अंतिम समय तक भी वे दूसरे की सुविधा को प्राथमिकता देते रहे।

मुझे बचपन की याद आ रही है—बाबूजी अपनी गोदी में लिटाकर मुझे सरसों का उबटन लगाते और मेरे रोएं छुड़ाते। किसी बच्चे के रोएं देखते तो कहते उसकी मां ने उबटन नहीं लगाया, देखो पुष्पा के रोएं हमने छुड़ाए हैं।

पढ़ने में मैं परिश्रम नहीं करती। इससे बाबूजी को मैंने बहुत दुखी किया। परीक्षा से पूर्व जो कुछ कहना होता, कहते थे किन्तु परीक्षा-फल निकलने पर कुछ नहीं कहते थे। भले ही असफल हो जाऊं। स्वयं बाबूजी अत्यन्त परिश्रमी तथा मेधावी छात्र रहे, कुछ समय अध्यापन का कार्य भी किया था। अतएव बहुत अच्छी तरह से विषय को समझाते थे। गांधी-वादी सही अर्थों में थे। साहित्य, इतिहास, राजनीति इत्यादि उनके रुचिकर विषय थे। सत्ता की राजनीति में कभी नहीं रहे। वह अच्छे वक्ता थे। उन्हें सफाई बहुत पसन्द थी और जहां रहते सफाई का ध्यान रखते। उनकी इस बात का हम सभी पर थोड़ा-बहुत असर हुआ है। सजावट पर कम प्रसन्न होते थे, उसे कभी-कभी वह बनावट की संज्ञा दे देते थे। उनके विनोदी तथा चिढ़ाने वाले मधुर स्वभाव से उनके सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्ति अवगत थे और खूब आनन्द लिया करते थे। अपने सभी सुखों का त्याग करके उन्होंने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्य को पूरा किया। हम सभी भाई-बहनों को यथास्थान पहुंचाकर परमात्मा में विलीन हो गए। हमें अपने बाबूजी पर गर्व है। सच मानिए तो हमें स्वयं पर भी गर्व है कि हम ऐसे पिता की सन्तान हैं।

आस्तिक थे किन्तु मंदिर के घंटे मेरी याद में बाबूजी ने कभी नहीं बजाए। श्री राम से उन्हें विशेष प्रेम था; शायद उनके इष्टदेव थे। राम की मूर्ति राम-राम कहते हुए इस नश्वर देह का त्याग करके राम में समा चुकी है। उनकी पुण्य आत्मा को मेरा शत-शत प्रणाम स्वीकार हो।

□ पुष्पा

महामना बाबूजी

बाबूजी हमारे परिवार के स्तम्भ थे। मैं उनको अपना 'आदर्श मानती हूं। उन्होंने जीवन में जितना संघर्ष और त्याग किया उतना बिरले लोग कर सकते हैं। बाबूजी के साथ मेरे बचपन के ग्यारह वर्ष दिल्ली में बीते। उनके साथ रहकर

मैंने कोई कमी महसूस नहीं की। बाबूजी के साथ मेरी अनेक स्मृतियां जुड़ी हुई हैं। व्यस्त दिनचर्या के बाद भी वह मेरी पढ़ाई का पूरा ध्यान रखते थे। शब्दों के अर्थ पूछना उनका शौक बन गया था। कभी पूछते, अच्छा सुधा ये बताओ कि धनियां को अंग्रेजी में क्या कहते हैं ? शाम को दफ्तर से आने के बाद बाजार जाते थे और बच्चों से जरूर पूछते थे, भई किसी को कुछ चाहिए ? कोई-न-कोई जरूर फरमाइश करता और बाबूजी उसकी फरमाइश पूरी भी कर देते। उन्होंने कभी नहीं पूछा कि क्यों चाहिए अथवा किसलिए चाहिए।

हमारी रिपोर्ट कार्ड पर भी वही हस्ताक्षर करते थे। मैं गणित में शुरू से ही कमजोर थी। एक बार मुझे क्लास टेस्ट में गणित में शून्य मिला। हस्ताक्षर तो करवाने ही थे। मन में उमड़-घुमड़ हो रही थी और डर लग रहा था कि बाबूजी बहुत डांटेंगे। लेकिन जब रिपोर्ट लेकर उनके पास गई तो उन्होंने सिर्फ इतना कहा, अगली बार और मेहनत करना।

बचपन में मैं काफी बीमार रहती थी। ऐसे में बाबूजी मुझे हमेशा अपने पास रखते थे। समय-समय पर दवाई देना, विक्स की मालिस करना, स्पंज आदि उन्हीं का काम हो जाता था। मेरा ही नहीं घर में कोई बच्चा बीमार हो यहां तक कि नौकर भी बीमार हो जाता तो बाबूजी उसके इलाज में कोई कमी नहीं करते।

मैं कौन-सा विषय लूं ? आगे किस क्षेत्र में जाऊं ? इत्यादि का निर्णय वही किया करते थे। पिछले साल बी० कॉम० में द्वितीय श्रेणी पाने पर उन्होंने एक विशेष पत्र मुझे लिखा जिसे मैंने संभाल कर रखा है। वह पत्र जब भी मैं पढ़ती हूं, मेरे मन में उत्साह की भावना एक बार जरूर जागृत हो जाती है।

प्रायः हर साल बाबूजी हम सबसे मिलने बम्बई आते थे। उनके आने का हम लोग बेचैनी से इंतजार करते थे। इस बार वह ज्यादा दिन तक रहे और यही कहते रहे कि 'तुम लोग मुझे जाने नहीं दे रहे हो,' और अन्त में इस तरह गये जिसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता था।

बाबूजी के साथ बीते दिनों की स्मृतियां इतनी हैं कि लिखते जायें और वे कभी खतम न होंगी। मैं अब भी महसूस करती हूं वह अब भी हमारे साथ हैं और उनका मार्गदर्शन हमें मिलता रहेगा। उनका विनोदी स्वभाव, कर्मठ व्यक्तित्व, संघर्ष और त्यागमय जीवन हमें हमेशा प्रेरणा देता रहेगा। हमारे बाबूजी अमर हैं और अमर रहेंगें।

□ सुधा

मेरे बाबूजी

बाबूजी त्याग, कर्त्तव्य और निःस्वार्थ भावना की जीती-जागती मूर्ति थे।

उनकी याद आते ही मन में एक ऐसी आकृति उभरती है जिसके सामने सिर श्रद्धा से झुक जाता है। उनके साथ करीब आठ साल छुटपन में रही। बचपन की कई यादें उनसे जुड़ी हैं। उनका हंसमुख स्वभाव मुझे बहुत अच्छा लगता था। वह जहां भी रहते अपनी बातों और विनोदी स्वभाव से लोगों पर छा जाते। उनके कई चुटकुले हम सभी बच्चों को याद हैं। उनका मछलियों और भेड़-बकरियों वाला किस्सा सुनकर शायद ही कोई हंसे बिना रह सकता था। वह स्वयं सुनाकर खूब हंसते और भरपूर आनंद लेते थे।

बाबूजी ने हमारा कदम-कदम पर उत्साह बढ़ाया। हम सब को दसवीं कक्षा पास करने पर कुछ-न-कुछ उपहार देकर प्रोत्साहित करते थे। उनकी दी हुई घड़ी मेरी कलाई पर बंधी हुई हमेशा उनकी याद दिलाती है। उन्हें बच्चों से बहुत लगाव था—विशेषकर घर के सबसे छोटे बच्चे से। मैं बहुत छोटी थी। मम्मी बहुत बीमार थीं। रात में मुझे जोरों की भूख लगी। बहुत रोने पर जब किसी ने मुझे नहीं उठाया तो बाबूजी उठकर आये। मुझे गोदी में उठाया। रसोई में ले गये। स्टोव जलाया और दूध गरम किया और फिर मुझे पिलाया। ऐसी ही अनेक घटनाएं हैं जो मेरी आंखें नम कर देती हैं।

बाबूजी को संगीत से लगाव था। हमेशा कुछ-न-कुछ गाते या गुनगुनाते रहते। जब कभी मैं कोई फिल्मी गीत गाती तो मुझसे पूछते, 'तुम मीरा के भजन नहीं गाती।' अब तो बस उनकी स्मृतियां ही बाकी रह गई हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके बताये हुए मार्ग पर चलें, उनके गुणों को अपनायें। मेरे विचार से ऐसा सोचना गलत होगा कि वह जीवित नहीं हैं, वह तो अमर हो गये।

□ रेनू

ऐसे थे हमारे बाबूजी

चौदह-पंद्रह वर्ष की अवस्था तक मैं बराबर बाबूजी के साथ रही। शिलांग आने पर बाबूजी का साथ भी छूट गया। साल में दो-तीन बार ही भेंट हो पाती थी।

बाबूजी बहुत विनोदी प्रकृति के थे। हम लोगों को हंसाने के लिए वे कोई-न-कोई बात बनाया करते थे। उनका एक व्यंग्य-विनोद कुछ इस प्रकार था। व्यंग्य था मेरे और अनू पर और हमारे नानाजी पर तीनों एक से एक मूर्ख दिखाई देते। इसे बाबूजी ऐसे सुनाते—

"एक बार अनू ने मीनू से पूछा—'दीदी, अगर गंगा मैया में आग लग जाएगी तो सारी मछलियां कहां जाएंगी ?'

तब, मीनू ने खूब सोचकर कहा, 'अरे पागल ! वो सब पेड़ पर चढ़ जाएंगी और कहां जाएंगी'।"

इतना सुनाकर बाबूजी खूब हंसते और कहते, "ये सुनकर मीनू के नाना लगे हंसने और उन दोनों से बोले, 'अरे भई तुम दोनों तो एकदम पागल हो, मछलियां कोई गाय-भैंस थोड़े ही हैं जो पेड़ पर चढ़ जाएंगी'।"

आज भी जब हम लोग इसे याद करते हैं तो हंसते-हंसते पेट फूल जाता है।

अनू शुरू से ही बहुत पतली और मैं मोटी थी। मैं गिरती भी बहुत थी। बाबूजी मजाकिया नाम रखने में बहुत आनंद लेते थे। उनके दिये हुए कुछ नाम थे—धड़ामा, भड़ामा, भगोना और बोमक्का। बाद में मेरे लिए बोमक्का शीर्षक की कहानी की किताब भी लाये थे। उसकी नायिका थी एक तन्दुरुस्त और बहादुर भैंस बोमक्का। सिर्फ बाबूजी ही नहीं, मेरा नाम रखने वालों में पुष्पा बूआ भी थीं। बाबूजी को यह पसंद नहीं आता था। लोगों के चिढ़ाने पर उनकी सहानुभूति मेरे साथ रहती। एक दिन मैं बाबूजी के पास शिकायत लेकर पहुंची। बाबूजी ने बड़ा ही सरल समाधान बता दिया, बोले जब चिढ़ाए तो तुम बस यह कह देना—"काग कहै कल कंठ कठोरा।" इसके साथ-साथ उनका चिढ़ाना और नित्य का नया नामकरण कम हो गया।

पढ़ाई-लिखाई न करने पर बाबूजी को मेरे ऊपर मन-ही-मन गुस्सा आता था। इसी सबको लेकर एक बार उनके दिमाग में 'आवारा' शब्द उभरा। लेकिन अब आवारा कैसे कहते ? बस, मुझे सुनाकर अवरयू-अवरयू कहने लगे। मुझे कुछ समझ में आता, कुछ न आता, सोचा कि बाबूजी से ही पूछ लूं। पूछा तो बोले, कुछ नहीं भई हम तो 'हाऊ आर यू ?' 'हाऊ आर यू ?' कहते हैं। और इतना कहकर अपने ही बुद्धि-कौशल पर हंसने लगे। 'हाऊ आर यू' कहने में क्या बुराई है, मैं यही सोचती रह गई।

गर्मी की छुट्टियों में जब मैं पढ़ाई से संन्यास लिये हुए दिखती तो बाबूजी को काफी खीझ आती थी। ऐसे ही एक दिन शाम को मेरे कमरे में आए और बोले, 'हम शर्त लगा रहे हैं अगर तुम दसवीं पास हो जाती हो तो हम तुमको पांच सौ रुपये देंगे और अगर फेल हो जाती हो तो तुम हमको पांच सौ रुपये देना।' उन्होंने ये शर्त बाकायदा लिखकर दी और मेरी फर्स्ट डिवीजन आने पर उन्होंने पांच सौ से कहीं अधिक रुपये देकर अपनी शर्त पूरी की।

दसवीं की परीक्षा के लिए भूगोल विज्ञान और गणित में तो मुझे कोई दिक्कत नहीं थी लेकिन इतिहास और नागरिक शास्त्र में पास होना मुश्किल नजर आ रहा था। बाबूजी ने मेरे साथ बड़ी मेहनत की और उनकी ही बदौलत मुझे बोर्ड की परीक्षा में इन विषयों में भी साठ प्रतिशत से ऊपर अंक मिले। उसी साल जब वे गौहाटी चाचा के पास गए थे तो भी मेरे ही नोट्स बनाते और पोस्ट द्वारा भेजते। जैसे-जैसे मेरी परीक्षा का दिन निकट आता गया, बाबूजी और मेहनत करने लगे। उन दिनों उत्तर प्रदेश में भारी लोड शेडिंग चल रही थी। मोमबत्ती

की रोशनी में वे मुझे इतिहास पढ़ाते। ऐसे में इतिहास जैसा विषय पढ़ने से भला किसे नींद न आएगी। मैं भी ऊंघने लगती। बाबूजी तब यह कहकर मुझे भेज देते 'जाओ अब तुमको नींद आ रही है सो जाओ, सुबह पढ़ाएंगे।' ऐसा लगता मानो उनका ही काम हो। अब लगता है बेचारे मुझसे कितने निराश हो गए होंगे। निराशा केवल मुझी से नहीं थी, अरुण चाचा से भी काफी निराश थे। एक दिन जब बाबूजी मुझे पढ़ा रहे थे तभी अरुण चाचा अपनी बारीक आवाज में गुनगुनाते हुए वहीं आए। पता नहीं बाबूजी के मन में क्या आया, कहने लगे 'संभव ने असंभव से पूछा, तुम कहां रहते हो ? तो असंभव ने कहा अकर्मण्य के सपनों में। इस कथन में उन्होंने एक बाण से दो चिड़ियां मारीं, अरुण चाचा को और मुझे अकर्मण्य की संज्ञा तो दे ही दी, साथ में यह भी दर्शा दिया कि दोनों ही जनों की सफलता असम्भव है।

मेरी इन्टरमीडिएट (पी० यू०) की परीक्षा के पहले भी बाबूजी शिलांग आए थे। मेरे विषयों में केवल अंग्रेजी ही उनकी रुचि का विषय था। अंग्रेजी में उन्होंने मेरी बहुत मदद की। उसी से जहां मेरी कक्षा की अन्य लड़कियां साठ प्रतिशत भी मुश्किल से ला पाईं मेरे सत्तर प्रतिशत के करीब अंक आए।

प्रिपरेशन लीव तो चल ही रही थी। पढ़ाई के साथ-साथ घर की सफाई का काम मेरा था। जब तक मैं थोड़ी पढ़ाई करके मन बहलाने के लिए सफाई करने उठती, बाबूजी कम-से-कम एक बार अपने कमरे में और बाहर झाड़ू लगा चुके होते। उनको ऐसा करते मैंने बचपन से देखा। मैं फिर भी सफाई करने जाती। तो बाबूजी कहते, 'क्यों मलाई उतार रही हो कोई फायदा नहीं।' उनका तात्पर्य होता कि जिस तरह मलाई उतारने से दूध की पौष्टिकता कम हो जाती है, वैसे ही मेरी सफाई से कमरा साफ कम, गंदा ज्यादा होता है।

छुट्टियों में हम लोग पापा के साथ फील्ड गए थे। बाबूजी भी साथ थे। एक दिन बोटिंग का प्रोग्राम बना। हवा और नदी का बहाव बहुत तेज था। नाव चलाने वाला एक दुबला-पतला बंगला देशी था। नाव में हम छः लोग थे जिनमें तैरना सिर्फ बाबूजी को आता। नाव उलटने का डर हम सबको लग रहा था। बाबूजी को उस समय भी मजाक सूझ रहा था। मुझको चिढ़ाने और डराने की नियत से सस्वर बोले, 'एक पापी ले डूबता है नाव को मझधार में।' मेरा ऐसे ही प्राण सूख रहा था, ऊपर नाव से बाबूजी लगे चिढ़ाने तो हालत एकदम खस्ता। मम्मी-पापा भी हंसने लगे। इतने में नाव किनारे आ गई।

ऐसे ही व्यंग्य और विनोद के द्वारा बाबूजी अपनी बात को सशक्त रूप में समझा देते थे जिसका प्रभाव सदैव बना रहने वाला होता था। ऐसे थे हमारे बाबूजी जिन्हें भुलाना मुश्किल है।

□ मीनू

मेरे प्रिय बाबूजी

परिवार के हमउम्र बच्चों में मैं सबसे छोटी थी। सुधा, रेनू, मीनू और फिर मैं। बाबू सबसे अधिक प्यार मुझे करते थे। कोई आता तो परिचय कराते, 'यह मेरी सेक्रेटरी है।' प्रीती के आ जाने पर इस स्नेह का अधिक भाग वह ले गई। मेरा पन्द्रहवां जन्मदिन मनाने के लिए बाबूजी व अरुण चाचा पिछले वर्ष अक्टूबर में वाराणसी से शिलांग आए। लगभग डेढ़-पौने दो महीने रहे। मेरी दसवीं बोर्ड की परीक्षा के लिए उन्होंने सामाजिक शास्त्र की दो पुस्तकों का अस्सी पृष्ठों का सारांश इन्हीं दिनों बनाया और कहे कि 'परीक्षा के बाद इसे मेरे पास भेज देना, मैं छपवाऊंगा।' शिलांग में ठण्ड अधिक पड़ने लगी थी। इसलिए दिसम्बर में बाबूजी व अरुण चाचा वापस बनारस चले गए। उनकी इच्छा थी हम लोग भी उनके साथ बनारस चलें। किन्तु मेरी पढ़ाई का नुकसान होगा। यह सोचकर यही निर्णय लिया गया कि इस वर्ष हम लोग शिलांग में ही रहेंगे। फिर बाबूजी का आग्रह था कि हम लोग बनारस आएं। जाते समय उनकी तबीयत भी कुछ खराब लग रही थी। यह उनके आग्रह का जादू ही था कि वह बनारस में नहीं पहुंचे होंगे कि हम लोगों ने जनवरी में वाराणसी जाकर उनके साथ रहने का निर्णय कर लिया। जनवरी के अन्त में बाबूजी बम्बई और हम लोग वापस शिलांग चले आए।

पन्द्रह फरवरी से स्कूल बोर्ड की परीक्षा की तैयारी में बन्द हो गया। मैं बाबूजी का सामाजिक शास्त्र वाला नोट लेकर पढ़ रही थी। तभी जोर से घंटी बजी। मैंने दरवाजा खोला। पोस्टमैन एक तार लिये खड़ा था। मम्मी हस्ताक्षर करने लगी और मैं तार को उलट-पुलट कर देख रही थी। समझ में नहीं आ रहा था कि किधर से खोलूं। फिर मम्मी ने ही उसे खोला। देखते-देखते मम्मी के चेहरे का रंग उड़ गया। वह तार को लेकर 'अब क्या होगा? अब क्या होगा?' कहती रोने लगी। मेरी समझ में न आया कि क्या हो गया। तार पढ़ा तो विश्वास नहीं हुआ। पढ़कर अजीब-सा लगा, मितली-सी आने लगी। लगा जैसे कुछ अघट-सा घट गया हो। बेचारी प्रीती को जल्दी समझ में न आ सका कि क्या हो गया। 'मम्मी मत रोइए, मत रोइए' कहकर वह भी रो पड़ी।

पापा उसी दिन दौड़े पर जाने वाले थे इसलिए जल्दी घर आ गए। दरवाजे पर मम्मी रुआंसी खड़ी थी। कुछ बोल न सकी और तार पकड़ा दिया। पढ़कर पापा ने कुछ नहीं कहा—अन्दर आकर हमें सांत्वना देने लगे। उनको खुद कैसा लग रहा था, उन्होंने व्यक्त नहीं होने दिया। बहुत-से लोग मिलने आए। अगले दिन सवेरे दीदी और मुझे छोड़कर पापा, मम्मी और प्रीती, बनारस चले गए। इसी को कहते हैं, वही होता है जो मंजूरे खुदा होता है। कहां तो मेरी परीक्षा के

कारण हम लोग शिलांग छोड़ना नहीं चाहते थे और कहां ऐन परीक्षा की तैयारी के दिनों में मम्मी और पापा को हमें छोड़कर दुबारा जाना पड़ा।

अब याद आता है, बाबूजी के साथ दिल्ली में रोज शाम को मैं बाजार जाती और सिन्धी की दुकान से शीतल सुगन्धित दूध पीकर टहलते-टहलते सब्जी लिये घर आती। जब कोई चीज खाने या लेने का मन होता तो बाबूजी से कहती 'बाऊजी, मम्मी ने यह लेने को कहा है।' और बस वह चीज—मिठाई, केले, भुट्टा कुछ भी हो, खरीद ली जाती। बाबूजी कहीं भी जाते हमारे लिए कुछ-न-कुछ जरूर लाते।

बनारस में भी हम लोग बाबूजी के साथ डेढ़ साल तक रहे। बाबूजी रोज बस स्टाप तक हमें लेने व छोड़ने जाते। अगर यूनीफार्म गंदी होती तो कहते, 'गंदा नहीं पहनना चाहिए, हमें देना हम साफ कर देंगे।' बनारस में सामाजिक शास्त्र हिन्दी में पढ़ाया जाता। माध्यम परिवर्तन के कारण मुझे कठिनाई थी। बाबूजी मुझे हिन्दी में अच्छी तरह समझा दिया करते थे। शिलांग भी आते तो मेरी पढ़ाई में मदद करते थे। प्रथम श्रेणी आने पर बाबूजी मुझे भी घड़ी देना चाहते थे लेकिन परीक्षा से पहले ही बाबूजी ने घड़ी के लिए पैसे भेज दिए थे और मेरे लिए नयी घड़ी भी आ गई। सोचती हूं ऐसा क्यों किया बाबूजी ने? क्या उन्हें पूर्वाभास हो गया था कि वे मेरा परीक्षाफल घोषित होने तक हम लोगों के बीच नहीं रहेंगे।

अभी भी विश्वास नहीं हो रहा है कि बाबूजी नहीं हैं। लगता है कि अबकी भी बनारस जाएंगे तो बाबूजी स्टेशन पर लेने आएंगे। बनारस का घर बाबूजी के बिना कैसा लगता होगा, मेरे लिए सोच पाना भी मुश्किल है। हर साल बनारस जाते तो लगता कि वहां पर कोई अपना है जिससे मिलने जा रहे हैं। लेकिन अब तो केवल एक सूना घर ही है जहां जाकर अकेले ही रहना होगा—यह सब सोचकर अजीब-सा लगता है। सच तो सच ही पर मन कह रहा है कि बाबूजी हैं और हमेशा रहेंगे। उन्होंने बचपन में मेरे कुछ निकनेम रखे जैसे 'ऐक्सीडेन्ट प्रोन' और 'स्लो कोच' तब तो शायद ये अच्छे नहीं लगे पर अब इन शब्दों के साथ बाबूजी की मधुर स्मृतियां जुड़ गई हैं और इनमें अपार ममत्व छलकता है।

☐ अन

बाबूजी

हमारे बाबूजी बहोत अच्छे थे। हमको बहुत प्यार करते थे। हम भी उनको प्यार करते थे। जब भी वे आते थे तो हमारे लिए कुछ लाते थे। हमको पाठशाला से

लाने जाते थे। जो भी हमको मारने आता था वो हमको बचाते थे।

☐ प्रीती

आदरणीय बाबूजी

बाबूजी के साथ मुझे विगत पांच-छः वर्षों से रहने का मौका मिला जब वे दिल्ली से वाराणसी आ गए। बाबूजी उपनाम रखने में कोई संकोच नहीं करते थे। कोई गलती हो जाती तो गलती को संकेत करके मुझे किसी उपनाम से पुकारते और मैं समझ जाता कि मुझसे अमुक गलती हो गयी है। मैं उसे सुधार लेता। बाबूजी सफाई पर बहुत ध्यान देते थे। घर के सामने कागज का एक तिनका तक उनसे न देखा जाता। वे पूरे परिवार के दुख-सुख का ध्यान रखते थे। यदि किसी जगह से पत्र न आता तो काफी परेशान दीखते और कहते, "क्या बात है पत्र नहीं आ रहा है?" वह पारिवारिक आवश्यकताओं के लिए बराबर प्रयत्नशील थे। उनका कहना था, "मनुष्य को किसी प्रकार का संकट आने पर अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिए। प्रयत्न करते रहने से उद्देश्य की प्राप्ति होती है।"

बाबूजी बहुत कम लोगों से मिलना पसन्द करते थे। अधिक समय अंग्रेजी शब्दकोश के नये संस्करण में लगाते थे। अपने मित्र चौबेजी के साथ शब्दकोश के विषय में प्रायः चर्चा करते। बनारस में उनका बाबाजी (भाभीजी के पिता) व चौबेजी से नित्य मिलना होता। बाबा यदि किसी कारण से नहीं आ पाते तो बराबर कहते रहते, 'क्या बात है, आज ठाकुर साहब नहीं आए?' बाबा व चौबेजी जिस दिन न मिलें लगता था उनकी कोई वस्तु खोयी हुई है।

बाबूजी कई वर्षों से बम्बई नहीं जा सके थे। २९ जनवरी को मैं उनको स्टेशन छोड़ने गया तो कहने लगे—

"हम तुम्हें अपने साथ ले चलते।"

मैंने कहा, 'बाबूजी मैं अपना कपड़ा लेकर आता हूं।' कुछ सोचते हुए बोले, रहने दो और फिर मुझे दो सौ रुपये का चेक देते हुए कहे, "तुम तकलीफ मत करना और इस बीच बोधीपट्टी जाना चाहो तो जा सकते हो। लेकिन १३-१४ फरवरी तक बनारस वापस आ जाना। मैं बम्बई एक हफ्ता रुककर भोपाल आऊंगा और वहां से हम लोग वापस वाराणसी आएंगे। यहां कोई कारोबार किया जाएगा।"

लेकिन भगवान को मंजूर नहीं था कि बाबूजी वापस हम लोगों के बीच आते। मन आज भी कहता है कि बाबूजी बम्बई से वापस आएंगे। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि उनकी महान् आत्मा को शान्ति दे।

☐ अरुण

बाबूजी कुछ स्मृतियां

बाबूजी से मेरी भेंट सर्वप्रथम २९ अप्रैल, १९८० में उनके निवास नागर कॉलोनी, वाराणसी में हुई। श्री राजेन्द्र सिंह से कई बार शिलांग में ही उनकी चर्चा सुन रखा था। उनके लिए मेरे हृदय में तभी से जिज्ञासा जाग गयी थी। उनसे मिलकर अपार खुशी का अनुभव प्राप्त हो रहा था। करीब साढ़े बारह बजे थे, वह बरामदे में टहल रहे थे। उन्हें देखकर मेरे मुख से अचानक 'बाबूजी' निकल पड़ा। मैंने नमस्कार किया। उन्होंने बड़े ही सरल स्वभाव और मीठे शब्दों में नमस्कार स्वीकार किया और कहा 'आइये बैठिये, आप कहां से आये हैं' मैंने अपना परिचय दिया। जब वे सुने कि मैं शिलांग से आ रहा हूं तो प्रफुल्लित हो गये और 'आइए, आइए' कहते हुए मुझे अन्दर ले गये। उनके सरल स्वभाव, स्नेह और सम्मान से मैं बहुत प्रभावित हुआ। काफी समय तक बातचीत करता रहा। बातचीत के दौरान ही उन्होंने मुझे बेल का शर्बत दिया और बार-बार भोजन ग्रहण करने के लिए आग्रह किया। मैंने जब जाने के लिए उनसे अनुमति मांगी तो वे बड़ी ही सरलता से बोले, "बाबू साहब इसे अपना घर समझें और बराबर आते रहिये।" उनके स्नेहयुक्त सम्बोधन से मेरा हृदय द्रवित हो गया और उसी क्षण से उनके प्रति मेरे हृदय में ममता ने वास लिया और उनका स्नेह मेरे हृदय में समा गया।

दूसरी बार मेरी मुलाकात उनसे दो ढ़ाई महीने बाद शिलांग में हुई। काफी देर तक वार्तालाप का आनन्द मिला। मैंने उनसे अपने निवास पर आने का निवेदन किया जिसे उन्होंने सहज ही स्वीकार कर लिया। जब वे मेरे यहां आये तो मैंने भोजन ग्रहण करने के लिए उनसे आग्रह किया। उन्होंने कहा, 'आप अकेले तकलीफ न करें, हम फिर आएंगे और आप के परिवार के साथ भोजन ग्रहण करेंगे।' बातचीत के दौरान मेरी दिनचर्या सुनकर वे काफी प्रसन्न हुए। मेरी पदोन्नति की भी कामना की। मैंने उन्हें गाड़ी से पहुंचाने को कहा तो वे बोले, 'पैदल चलने से शरीर को बड़ा आराम रहता है।' और पैदल ही चले गये।

बाबूजी से मेरी तीसरी मुलाकात मुगलसराय रेलवे स्टेशन पर हुई जब वह बच्चों को लेने के लिए आये हुए थे। मुझे देखकर बोले, 'बड़ा सौभाग्य रहा, आप भी साथ आये हैं।' मुझे साथ चलने के लिए आग्रह किया। लेकिन मैं किसी कारण वश उस रात उनके निवास-स्थान न पहुंच सका। दूसरे दिन मिलने पर उन्होंने चिन्ता व्यक्त की, मैं कैसे और कहां रहा? जब मैं चलने लगा तो बड़ी विनम्रता से बोले, 'जाइये लेकिन फिर जरूर आइयेगा।' ये शब्द मुझे बराबर उनकी याद दिलाते रहे।

मेरी आखिरी मुलाकात अक्टूबर उन्नीस सौ इक्यासी में शिलांग में हुई। आग्रह

करने पर वे एक दिन पौत्री प्रीती के साथ आये। इस बार भी वे पहले के ही शब्दों में बोले, 'अभी आप का परिवार यहां पर नहीं है। आप तकलीफ न करें, कभी दूसरी बार आपके यहां भोजन होगा।' परन्तु विधाता ने मुझे उनकी सेवा करने का अवसर नहीं दिया। कौन जानता था कि स्नेहपूर्ण वाक्य बाबूजी की अंतिम यादगार बन जायेगी।

१५ फरवरी, १९८२ को करीब एक बजे जब मेरे टेलीफोन की घंटी बजी तो जाने क्यों मैं चौंक-सा गया। मैंने टेलीफोन उठाया तो माननीय जे० पी० सिंह ने बड़ी दुखभरी आवाज में बताया कि "बाबूजी का स्वर्गवास हो गया।" तुरन्त उनके पास पहुंचा, वहीं राजेन्द्र भाई साहब बैठे थे। उन लोगों से मुझे और कुछ पूछने का साहस नहीं हो रहा था। मैं धैर्य खो चुका था। मन-ही-मन पूछ रहा था, 'बाबूजी आप ने यह क्या किया।' उनका स्नेहयुक्त हंसता हुआ चेहरा आज भी मेरे हृदय में विद्यमान है। उनकी याद में मैं डूबता-उतराता रहा और आंसू छलक पड़े। मुझे यही आभास होता रहा कि अभी वे जीवित हैं और आने वाले हैं। मुस्कराते हुए बातचीत करेंगे, यह भाव अभी मेरे दिल में विद्यमान है। उस महान् व्यक्ति के प्रति अब हमारे पास आंसू के अलावा दूसरा क्या है? भगवान उनके यश को उज्ज्वल रखें और आत्मा को शान्ति प्रदान करें, यही मेरी मनोकामनायें हैं।

□ **बी० एन० सिंह**
स्टेशन ऑफिसर
फायर सर्विस स्टेशन, शिलांग

हिन्दी के महान् विद्वान्

'भारतीय रेल में हिन्दी का प्रचलन और विस्तार करने वाले, रेलवे बोर्ड के भूतपूर्व वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी, राममूर्ति सिंह का निधन १४ फरवरी, १९८२ ई० को हृदय गति रुक जाने के कारण बम्बई में हो गया। शास्त्रीजी जब केन्द्रीय सरकार में रेलमंत्री हुए, स्व० राममूर्ति सिंह रेलवे बोर्ड के प्रथम हिन्दी अधिकारी बने। लगभग बीस वर्ष के सेवाकाल में उन्होंने भारतीय रेल में हिन्दी के प्रयोग को सुदृढ़ रूप-रेखा दी। यह स्व० सिंह के अथक परिश्रम का ही फल है कि हिन्दी का सरल और बोधगम्य स्वरूप भारतीय रेल में देखने को मिलता है। उन्होंने आठों क्षेत्रीय रेलों में हिन्दी विभागाध्यक्षों की नियुक्तियां कीं जो अब अपने आप में अलग-अलग विभाग के रूप में फल-फूल रहे हैं।

श्री राममूर्ति सिंह के आकस्मिक निधन से देश ने राष्ट्र-भाषा का एक महान् प्रेमी खो दिया। वे अब हमारे बीच में नहीं हैं, पर रेल विभाग में उनके द्वारा राष्ट्र-भाषा को प्रतिष्ठापित करने में की गई महान् सेवा उनकी अमरकीर्ति के रूप में हमेशा देशवासियों को उनका स्मरण दिलाती रहेगी। प्रभु उनकी पवित्र आत्मा को शान्ति दें और उनके शोक संतप्त परिवार को यह आघात सहन करने की सामर्थ्य दें। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।'

गांडीव—सम्पादकीय
वाराणसी,
२० फरवरी, १९८२

वे मनीषी थे

वे मनीषी थे। उनके साथ शब्द-चर्चा करके आनन्द आता था। वे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं के अच्छे जानकार थे। इसलिए वे तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय शब्दों की आर्थी सीमा तथा प्रयोग वैशिष्ट्य का आकलन सहज ही कर लेते थे। अंग्रेजी शब्दों के लिए गढ़े जाने वाले शब्द सरल और लघु हों इसके लिए वे विशेष सावधान रहते थे। 'Air Conditioned' के लिए वातानुकूलित पहले गढ़ा गया था। उसे सुन्दर हलका रूप 'वातानुकूल' देने वाले हमारे ठाकुर साहब ही थे। हिन्दी का सरकारी विभागों में सबसे अधिक प्रयोग रेल

विभाग में ही होता है। और उसका पूरा-पूरा श्रेय हमारे ठाकुर साहब को ही है।

वे अत्यन्त सौम्य, मधुरभाषी तथा मित्र-हितैषी थे। वे गुणी भी थे और गुणज्ञ भी। मनुष्यता तो उनमें जैसे कूट-कूटकर भरी हुई थी। मैं जब भी किसी समस्या को लेकर उनके पास पहुंचा, कभी निराश नहीं लौटा और वे जब भी मेरे यहां आये कुछ-न-कुछ सुझाव अवश्य दे गये। आज उन्हें खोकर लगता है हमने अपना सच्चा शुभचिन्तक खो दिया है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे।

□ **डॉ० बद्रीनाथ कपूर**
लाजपतनगर, वाराणसी।

ठाकुर साहब के निधन से हम सबको भारी धक्का लगा है। ऐसे समय में दुख का पारावार नहीं रहता और उसे अभिव्यक्ति देना भी निरर्थक लगता है। ठाकुर साहब को मृत अथवा पुष्प जो अब मुरझा गया है, नहीं समझना चाहिए अपितु दैवी हाथों लगाया गया सदा सुगंधित रहने वाला रंग-बिरंगा फूल समझना चाहिए जो धरती के फूल से अधिक मनमोहक है।

राममूर्ति सिंह के निकट सम्पर्क में आये मुझे दस वर्ष से अधिक हुआ। इसको मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। उनके निधन से मुझे निजी क्षति पहुंची है। कई लोग उन्हें भद्र पुरुष और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के रूप में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे। कुछ लोग उनकी बहुमुखी प्रतिभा, दृढ़निश्चयी व्यक्तित्व की महानता को नापने का प्रयास करेंगे। मुझे उनका विद्वता एवं बुद्धिमत्तापूर्ण व्यक्तित्व सच्ची मित्रता और मानवता का सुन्दरतम प्रतिरूप दिखता है। उनके दिल और दिमाग की खूबियों, शालीन किन्तु शान्ति प्रकृति के बिना उनकी याद आना कठिन है। वह सर्वथा श्रेष्ठ पुरुष थे। उनके परिवार के अतिरिक्त अनेक लोग उनके विछोह से दुखी होंगे।

□ **के० पी० सिंह, एडवोकेट,**
कैलाश कालोनी, नई दिल्ली।

श्री राममूर्ति सिंह को नजदीक से जानने का अवसर मुझे उस समय मिला जब मैं दिल्ली में था। तभी से मेरी कोशिश रही है कि उनके दिल और दिमाग की खूबियों को अपना सकूं। उनके स्वर्गवास से मुझे गहरा दुख हुआ है।

ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि उनके परिवार के सदस्यों को कभी न पूरी होने वाली इस क्षति को सहने की शक्ति दे। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

□ **टी० एम० महादेव**
हैदराबाद।

श्रीराममूर्ति सिंह जिन्हें आत्मीय जन श्रद्धेय बाबूजी कहते हैं, न केवल महान् विद्वान् और अथक लेखक थे, अपितु उनमें कर्तव्यनिष्ठा, कार्यकुशलता और आत्मीयता जैसे कई दुर्लभ गुण भी थे। मैं १९६७ में उनके सम्पर्क में आया और तब से बराबर मैंने उन्हें श्रेष्ठ मानवीय गुणों की मूर्ति पाया—ऐसे गुण जो अब विरले लोगों में मिलते हैं। इन्हीं गुणों के कारण जो भी उनके सम्पर्क में आया स्वत: उनके आकर्षक व्यक्तित्व के निकट खिंचता गया।

उनकी मृत्यु से जो रिक्तता आई है वह पाटी नहीं जा सकती।

□ महेन्द्र प्रताप सिंह
शकूरबस्ती, दिल्ली

आदरणीय ठाकुर साहब की आत्मा ने वह पुराना शरीर छोड़ दिया और अनंत में विलीन हो मोक्ष को प्राप्त हो गई। हम प्रभु से उसकी शांति हेतु और परमब्रह्म में विलीन होने हेतु प्रार्थना करें, यही अभीष्ट है।

यह भी प्रार्थना है कि प्रभु उनके सब आत्मीयों को इस दारुण दु:ख को सहन करने तथा उनके बताए मार्ग पर चलने की शक्ति दे। ओम् शांति: ! शांति: !! शांति. !!!

□ श्यामसुन्दर
चावड़ी बाजार, दिल्ली

स्वर्गीय पिताजी की आत्मा को शांति प्रदान करने की भगवान से प्रार्थना करता हूं। साथ में यह भी कामना करता हूं कि परिवार के सभी व्यक्तियों को इस हृदय-विदारक दुख को सहन करने की शक्ति मिले। उनका स्नेह सदा मेरे हृदय-पटल पर रहेगा।

□ बूधनाथ चौबे
रांची

प्रभु से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें तथा समस्त परिवार को इस असामयिक विपत्ति को सहने की शक्ति प्रदान करें।

श्रीमान् राममूर्ति सिंहजी को मुझसे बड़ा स्नेह था। उन्होंने सदैव ही मुझे भाई के समान समझा। मैं जब भी दिल्ली गया उनसे घर व दफ्तर में अवश्य मिलकर आता था। उनका चिर-स्नेह मैं कभी नहीं भूल सकता।

□ सत्यदेव राव 'सत्य'
अजमेर, राजस्थान

आपका पत्र प्राप्त हुआ। श्री राममूर्ति सिंहजी के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर अत्यंत दुख हुआ। मैं ब्रह्मभोज में सम्मिलित नहीं हो पाऊंगा। इसके लिए क्षमा चाहता हूं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को शांति प्रदान करें और शोकसंतप्त परिवार को यह दुख सहन करने की शक्ति दें।

□ **रामचन्द्र चतुर्वेदी**
कैलाशनगर, दिल्ली।

जीजाजी एक सफल जीवन व्यतीत कर परमात्मा में लीन हो गये। उनको वह सद्‌गति प्राप्ति हुई जो साधु-संतों को होती है। आज यदि हम उनके लिए दुखी होते हैं तो इसमें केवल हमारा स्वार्थ है। हम अपने स्वार्थवश अपना नाम उनके नाम के साथ जोड़ना चाहते हैं। जीजाजी महान् व्यक्ति थे। मैं उनकी परम आत्मा को अपनी श्रद्धांजलि देता हूं।

□ **हृदय नारायण सिंह**

बाबूजी का स्णरण करते हुए, मुझे दो बातें नहीं भूलतीं—उनकी सादगी और सरलता। वे जब भी मिले, बड़े प्रेम से मिले और छोटे-बड़े सबका समाचार लेते थे। मुझे उनसे हमेशा प्रेरणा मिली और मिलती रहेगी। उनके निधन से हमारा शुभचिन्तक उठ गया है। मैं उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करता हूं।

□ **भानुप्रताप सिंह**

ठाकुर साहब से मेरा परिचय दस साल पहले कुंवर नरेन्द्र सिंह की शादी के समय हुआ। उन्होंने मुझे कई बार अपने गांव चलने का निमंत्रण दिया। दुर्भाग्य की बात है कि आज जब मैं उनके गांव आया हूं तब ठाकुर साहब हमारे बीच नहीं हैं। वे हमउम्र होते हुए भी व्यवहार में एक पीढ़ी पहले के थे। लड़के की शादी में कभी कुछ चाहा हो ऐसा नहीं अनुभव होने दिया। उनका दृष्टिकोण बहुत अलग था। उनके स्वभाव में एक विचित्र आकर्षण था। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शांति दे और हम लोगों को उनके विछोह को सहने की शक्ति।

□ **रामपाल सिंह**
लखनऊ

भाई साहब के बारें में क्या कहूं ? वे बहुत बड़े आदमी थे। उनकी बातें आपसे कहां तक गिनाऊं ? पर एक बात कहूंगा कि वे किसी की सिफारिश नहीं सुनते थे। उन्होंने कभी किसी के लिए कुछ कहा हो, ऐसा नहीं हुआ। वह अब परमात्मा में

लीन हो चुके हैं। हम उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करते हैं।

□ डॉ० वीरेन्द्र बहादुर सिंह
बोधीपट्टी

रामसूर्ति बाबू अपने खानदान के ही नहीं, इस जवार के प्रमुख व्यक्ति थे। हमें उन पर गर्व है। उन्होंने परिवार की उन्नति के लिए बहुत त्याग किया और एक उदाहरण बन गए। वे इस क्षेत्र के सबसे पहले ग्रेजुएट थे। बड़े परिश्रम से उन्होंने अपना मार्ग प्रशस्त किया। मुझे आशा है कि उनके बच्चे भी जहां कहीं भी रहें, उनसे प्रेरणा पाते रहेंगे। मैं इन शब्दों के साथ उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करता हूं।

□ रामनयन सिंह
बोधीपट्टी

दोहा

छत्री वंशमणि सुयशधर, कर्मवीर बल पुंज,
राममूर्ति सबके प्रिय, जन-मन मानस कुंज।
शक्ति अदम्य उत्साह के, शांत सिन्धु गंभीर,
राष्ट्र-प्रेम के दृढ़व्रती, भक्त अनन्य सुधीर।
युवक-हृदय जन-मन-हरण, तरण तटनि दुख-तीर,
असमय में ही छोड़कर, कहां गये तुम वीर।
कर्मवीर कर्मव्रती, हिन्दी-भक्त गुण-धाम,
तन, मन, धन अर्पित किया, राष्ट्रभाषा हित राम।
जन-दुख-भंजन, सुख-सदन, धुन के धनी महान्,
हिन्दी-हित सेवार्थ ही, निज सरबस कियो दान।
सरस्वती सेवक व्रती, भावुक भक्त अनन्य,
पाकर नवनित प्रेरणा, जन-मन होवै धन्य।
कथित हृदय संतप्त मन, होकर 'सत्य' अधीर,
श्रद्धांजलि अर्पित करें पावो ध्रुव पद वीर॥

छंद मन-हरण

श्री-युत् विद्या बुद्धि के निधान आप,
रा-जनीति, न्यायनीति धर्मनीति धोरे थे।
म-हिमा महान्, राष्ट्र-भाषा के मुकुट-मणि,
मू-रति विशाल, सौम्य, शील उजियारे थे।
र-वि सम रेलवे के मंडल में प्रकाशमान्,
ति-मिर हटाने आंग्ल भाषा का करारे थे।
सिं-हासन हिन्दी के विराजे रेलवे में भारे,
ह-रि के दुलारे कविकुल रखवारे थे।

सत्यदेव राव 'सत्य'
एम० ए०, साहित्यरत्न
अजमेर, राजस्थान

□□